आर्य-जीवन

प्रथम भाग

पं० राजाराम प्रोफ़ेसर डी० ए० वी कालिज लाहौर

संकलित

[मूल्य १॥)

सं० १९९८

प्रथम बार २,१००]

बाम्बे मशीन प्रेस लाहौर में छपा

वेदों शास्त्रों के सरल, सरस और प्रमाणिक हिन्दी भाष्य।

जो श्री पं० राजाराम जी प्रोफेसर डी. ए.वी. कालज लाहौर ने किये हैं।

(१) श्रीवाल्मीकि रामायण—भाषा टीका सहित।

यह टीका ऐसी उत्तम बनी है, कि इस पर प्रसन्न होकर पञ्जाब गवर्नमेन्ट और पञ्जाब यूनीवर्सिटी ने पं० जी को ७००) नकद इनाम दिया है। टीका का ढंग यह है (१) पहले मूलश्लोक (२) फिर श्लोक वार भाषा टीका। (३) टीका बड़ी ही सरल, सुबोध और सरस है। यह पुस्तक हर एक गृहस्थ को अपने घर में अवश्य रखनी चाहिए। मूल्य केवल ५।)

(२) संक्षिप्त महाभारत—सम्पूर्ण—इसकी टीका रामायण के ही ढंग पर बहुत उत्तम रची गई है। इस पर भी गवर्नमेन्ट ने इनाम दिया है। मूल्य केवल १०)

(३) नलदमयन्ती =) (४) द्रौपदी का पति केवल अर्जुन था —)

(५) श्रीमद्भगवद्गीता—टीका का ढंग—हर एक श्लोक का पहले पदार्थ, फिर अन्वयार्थ, फिर उस पर सविस्तर भाष्य है। इस पर भी ३००) इनाम मिला है। २)

(६) गीता हमें क्या सिखलाती है ।)

(७) ११ उपनिषदों का जोकि ब्रह्मविद्या का भंडार है मू० क्रमशः—

१—ईश उपनिषद्	=)	७—तैत्तिरीय उपनिषद्	।=)
२—केन उपनिषद्	=)	८—ऐतरेय उपनिषद्	≡)
३—कठ उपनिषद्	।=)	९—छान्दोग्य उपनिषद्	२)
४—प्रश्न उपनिषद्	।)	१०—बृहदारण्यक उपनिषद्	२)
५,६—मुण्डक और माण्डूक्य दोनों इकट्ठी	।—)	११—श्वेताश्वतर उपनिषद्	।—)
		११ इकट्ठी लेने में	५॥)

(८) उपनिषदों की भूमिका— ।)॥

(९) दर्शन शास्त्र— (१) योग दर्शन १)

आर्य्य जीवन (पूर्वार्ध) का सूचीपत्र

भूमिका

वाग्व्यवहार ।

वर्जनीय विषय ।

ओ३म्

आर्य-जीवन की भूमिका।

जीवन का महत्त्व — विश्वेश का रचा हुआ विश्व सारा ही आश्चर्यमय है, पर जहां जीवन पाया जाता है, उस की महिमा तो और भी विलक्षण है। एक छोटी सी कीड़ी भी जो जीवन रखती है, देखो किस प्रकार अपने जीवन की रक्षा के लिए सब ओर से सावधान रहती है। सुरक्षित रहने के लिए भूमि में बिल बनाती है। अकाल में भूखी न मरे, इसके लिए दाना २ ढो २ कर कोठडियां भर रखती है। सुरक्षित स्थान में अंडे देती है। और आने वाली विपत्ति की सूचना पाते ही अंडों को मुख में रख कर अन्यत्र चली जाती है। अपने अधिकारों की ऐसी रक्षा करती है, कि तुम भी जो इतने शक्तिशाली हो, यदि इस छोटे जन्तु का कोई अधिकार छीना चाहो, तो विना लडे मरे नहीं छीनने देगा। यह सारी जीवन की महिमा है, अजीवसृष्टि में ऐसी कोई महिमा नहीं पाई जाती॥

सर्वोत्तम जीवन — जीवन का विकास, जो लौकिक दृष्टि का विषय है, शैवाल से आरम्भ कर के मनुष्य पर्यन्त है। जीवन की महिमा तो इन सब में पाई जाती है, पर जो महिमा मानुषजीवन में पाई जाती है, वह अन्यत्र कहीं उपलब्ध नहीं होती। एक मोटी सी बात को ही ले लीजिये, हम जो अपने हृदय के सारे भाव

वाणी द्वारा दूसरों पर प्रकाशित कर सकते हैं, यह महिमा और किसी भी प्राणधारी के भाग्य में नहीं आई है, जैसी यह एक इस में सब से निराली बडे महत्त्व की बात है, ऐसी ही और भी कई बड़े महत्त्व की बातें इस जीवन में पाई जाती हैं। अत एव यह निर्विवाद माना जाता है, कि मानुषजीवन ही सर्वोत्तम जीवन है ॥

आर्यजीवन } हर एक जीवन, जिस २ अंग में जितना २ उन्नत होकर पूर्ण जीवन बनता है, उसकी योग्यता भी परमात्मा ने हर एक जीवन में रखदी है। जो पूर्णता किसी वनस्पति की है, वह एक पशु की नहीं, पशु की पूर्णता उससे निराली है। और मनुष्य की पूर्णता इन दोनों से निराली है। जिस वनस्पति की जड़ें भूमि में फैली हुई हैं, और कलेवर पुष्ट और दृढ है, वह वानस्पत्य जीवन की पूर्णता को पहुंच गया है। पशु, जिस के सारे अंग पूर्ण हृष्ट पुष्ट दृढिष्ठ और बलिष्ठ हैं, अपना आहार ढूंढने और शत्रुओं से बचने में समर्थ है, वह पाशवजीवन की पूर्णता को पहुंचगया है। पर मानुष जीवन की पूर्णता केवल शारीरिक उन्नति से नहीं होती, इस से पाशवजीन की पूर्णता और मानुषजीवन की पूर्णता में कोई भेद ही नहीं रहजाता, किन्तु मानुष जीवन की पूर्णता इसमें है, कि वह शरीर और आत्मा दोनों में उन्नत हो। जिस का शरीर स्वस्थ, हृष्ट पुष्ट दृढिष्ठ बलिष्ठ और फुर्तीला है, पर आत्मा बल हीन है, उस का जीवन पूर्णता को नहीं पहुंचा है। और जिस का आत्मा बलवान् है, पर शरीर अस्वस्थ और दुर्बल है, वह भी इस अंश में अधूरा जीवन रखता है। पूर्ण जीवन वही है, जो सर्वांगपरिपूर्ण है। ऐसे सर्वांग परिपूर्ण जीवन को **आर्यजीवन** कहते हैं।

जीवन को ऐसी पूर्णता पर पहुंचाने के लिए साक्षात् परमात्मा ने जो वेद द्वारा मनुष्य को उपदेश दिये हैं, और जो आर्य महापुरुषों ने अपने जीवन में पूरे कर दिखलाए हैं, उन्हीं का संग्रह इस पुस्तक में किया गया है, इस लिए इसका नाम **आर्य जीवन** रक्खा है ॥

आर्य जीवन दो भागों में विभक्त है, एक लौकिक जीवन और दूसरा दिव्य जीवन। लौकिक जीवन से अभिप्राय उस जीवन से है, जिस से हम अपनी, अपने परिवार और अपने समाज की लौकिक उन्नति का कारण बनते हैं, और दिव्य जीवन से अभिप्राय उस जीवन से है, जिस से हम इस जीवन के अनन्तर अमर जीवन पाते हैं। इस दृष्टि से इस पुस्तक के दो विभाग किये गये हैं—पूर्वार्ध और उत्तरार्ध। पूर्वार्ध में लौकिक जीवन का और उत्तरार्ध में दिव्य जीवन का वर्णन है। लौकिक जीवन और दिव्य जीवन परस्पर विरोधी नहीं, प्रत्युत अपनी २ पूर्णता के लिए दोनों ही एक दूसरे का सहारा लेते हैं, अत एव इनके वर्णनों में भी कोई ऐसा सीमाबन्ध नहीं होसकता, कि एक में दूसरे का वर्णन आये ही न। तथापि पूर्वार्ध में मुख्यतया लौकिक विषयों का और उत्तरार्ध में मुख्यतया दिव्य विषयों का वर्णन होगा।

पूर्वार्ध में लौकिक जीवन के तीन अंगों—प्रातिस्विक जीवन, पारिवारिक जीवन और सामाजिक जीवन का क्रमशः वर्णन होगा, और उत्तरार्ध में दिव्य जीवन के तीन अंगों कर्म, उपासना और ज्ञान का वर्णन होगा।

—इत्यलम्—

❀ आर्य्य जीवन ❀

आर्य-जीवन का संक्षिप्त वर्णन

विजानीह्यार्यान् ये च दस्यवो बर्हिष्मते रन्धया-शासदव्रतान् । शाकी भव यजमानस्य चोदिता विश्वेत्ता ते सधमादेषु चाकन (ऋग् १ । ५१ । ८)

हे इन्द्र ! आर्यों को पहचान, और जो दस्यु हैं, उनको पहचान, और इन व्रत हीनों को सिधाकर यज्ञ कर्ता के वशवर्ती बना * । तू शक्तिमान् है, यज्ञ कर्ता को आगे ही आगे ले जानेवाला बन । और मैं तेरी इन सारी महिमाओं को संग्रामों में यज्ञों में और उत्सवों में सदा चाहता रहूं ॥

वेद में अर्य और आर्य दो भिन्न शब्द पाये जाते हैं ।

आर्य शब्द की व्युत्पत्ति और प्रवृत्ति } अर्य शब्द बहुधा ईश्वर अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, जैसाकि:—

* सिधाकर वश वर्ती बना=दस्यु जो आर्य का विरोधी है, उसको सीधे मार्ग पर चलाकर आर्य का साथी बना, वा दमन करके आर्य के अधीन कर दे ।

यो अर्यो मर्तभोजनं परादादाति दाशुषे। इन्द्रो अस्मभ्यं शिक्षतु विभजा भूरि ते वसु भक्षीय तव राधसः

(ऋग् १।८१।६)

जो ईश्वर दानी पुरुषों को मनुष्यों के भोग प्रदान करता है, वह इन्द्र हमें दे, हे इन्द्र सब को बांटकर दे, तेरे पास अनखुट्ट भंडार है, अपने धन का हमें भागी बना॥

यहां अर्य शब्द ईश्वर अर्थ में है, ऐसे ही अन्यत्र भी है अत एव निघण्टु २।२२ में 'अर्य' ईश्वर के नामों में पढ़ा है। अर्य का दूसरा अर्थ वैश्य भी माना गया है। जैसाकि पाणिनिमुनि लिखते हैं।

अर्यः स्वामि वैश्ययोः (अष्टा० ३।१।१०३)

स्वामी और वैश्य अर्थ में अर्य बनता है।

इस दूसरे अर्थ में अर्य शब्द की प्रवृत्ति का मूल भी वही पहला अर्थ है। वैश्य भूमि का स्वामी होने से अर्य कहलाया है। ईश्वर स्वामी (मालिक) ये पर्याय शब्द हैं। सो मुख्यवृत्ति से अर्य शब्द का अर्थ ईश्वर ही है।

अर्य से अपत्य अर्थ में **"तस्यापत्यम्"** (अष्टा ४।१।९२) सूत्र से अण् आकर आर्य बना है। तब आर्य-शब्द की यह व्युत्पत्ति हुई **"अर्यस्यापत्यम् आर्यः"** वह जो ईश्वर का पुत्र है, वह **"आर्य"** है।

यही निर्वचन यास्काचार्य को अभिमत है, जैसाकि वे लिखते हैं—आर्यः=ईश्वर पुत्रः (निरु० ६।५।३)

अब जिस दृष्टि से लोक में एक को दूसरे का पुत्र कहते हैं, उस दृष्टि से तो ईश्वर न किसी का पिता है, न कोई उस का पुत्र है, किन्तु पिता के धर्मों का पालन करने से ईश्वर को पिता कहा गया है। इसी प्रकार पुत्र के धर्म पालन करने से मनुष्य पुत्र कहलाता है। अब ईश्वर तो सब की ओर पिता का धर्म पालन करता है इस लिए वह सब का पिता कहलाता है, जैसा कि स्वयं परमात्मा का वचन है—

मां हवन्ते पितरं न जन्तवः (ऋग्० १०।४८।१)

मुझे सब लोग पिता की नांई बुलाते हैं।

पर मनुष्य सब ईश्वर की ओर पुत्र का धर्म पालन नहीं करते, अत एव सभी आर्य नहीं कहलाते. जो पुत्र के धर्म का पालन करते हैं, वेही आर्य नाम के योग्य हैं, जो नहीं करते, वे आर्य=ईश्वरपुत्र नाम के योग्य नहीं हैं। जैसाकि स्वयं परमात्मा का वचन है-

न यो रर आर्यं नाम दस्यवे (ऋग्० १०।४९।१)

मैं वह ईश्वर हूं, जिस ने आर्य नाम दस्यु को नहीं दिया है॥

इस प्रकार आर्य इस दो अक्षरों के नाम में वे सारी बातें आजाती हैं, जो एक आर्य का कर्तव्य है। पुत्र को पिता पर भरोसा होता है। आर्य वह है, जिस को ईश्वर पिता पर पूरा भरोसा है। पुत्र वही है, जो पिता का आज्ञाकारी हो, आर्य वही है, जो ईश्वर पिता का आज्ञाकारी है। अर्थात् ईश्वर के वे नियम जो इस सृष्टि में पाए जाते हैं, और वे संदेश जो उसने ऋषियों के द्वारा भेजे हैं, सदा उनका पालन करता है, और कभी नहीं उलांघता। सच्चा पुत्र वही है, जो पिता के गुण अपने जीवन

में दिखलाए, सच्चा आर्य वही है, जो ईश्वरीय गुण अपने जीवन में दिखलाए । और अनीश्वर गुणों को अपने जीवन से मिटा डाले । सारांश यह, कि जो शक्तिमत्ता, विद्वत्ता, न्याय परायणता, सत्यवादिता, शुद्धाचार, सद्व्यवहार, धीरता, गम्भीरता, शूरवीरता स्वतन्त्रता आदि सद्गुणों से युक्त है वही आर्य है । सो आर्य शब्द का व्युत्पत्तिनिमित्त है ईश्वरपुत्र होना, और प्रवृत्ति निमित्त है, सद्गुणी होना । जो सद्गुणों से युक्त है, वही आर्य है। जो हीन है, वह दस्यु और दास है । सद्गुणी ही पूजा के योग्य और श्रद्धा के योग्य होता है, इस लिए पूज्य और श्रद्धेय अर्थ में भी आर्य शब्द का प्रयोग होता है । सो आर्य इस एक ही शब्द में आर्य जीवन का सारा सार भरा है ॥

प्रमाण—कर्तव्यमाचरन् कार्यमकर्तव्यमनाचरन् ।
तिष्ठति प्रकृताचारे स वा आर्य इति स्मृतः ॥

जो करने योग्य कार्य को करता है, और न करने योग्य को नहीं करता है, और जाति कुल देश की मर्यादा में स्थिर रहता है, वह आर्य कहलाता है ।

न वैरमुद्दीपयति प्रशान्तं न दर्पमारोहति नास्तमेति ।
न दुर्गतोऽस्मीति करोत्यकार्यं तमार्यशीलं परमाहुरार्याः ।११२
न स्वे सुखे वै कुरुते प्रहर्षं नान्यस्य दुःखे भवति प्रहृष्टः ।
दत्वा न पश्चात् कुरुते ऽनुतापं स कथ्यते सत्पुरुषार्यशीलः ।११३
(महाभारत, उद्योग पर्व अध्याय ३४)

जो शान्त हुए वैर को नहीं चमकाता, घमंड में कभी नहीं आता, तेज से हीन नहीं होता, और विपदाएं झेलता हुआ भी अकार्य नहीं करता है, उसको, हां केवल उसी को आर्य

पुरुष आर्य शील कहते हैं। ११२। जो अपने सुख (ऐश्वर्य) में फूल नहीं जाता, दूसरे के दुःख में प्रसन्न नहीं होता, देकरके पीछे पछताता नहीं, वह ऐसा सत्पुरुष आर्य शील कहलाता है।११३।

वृत्तेन हि भवत्यार्यो न धनेन न विद्यया।

(महाभार उद्योग पर्व ८९)

आचरण से ही आर्य होता है, न धन से न विद्या से।

पूर्व आर्य—हमारे पूर्वज सद्गुणों के कारण ही आर्य कहलाते थे, और उन्हों ने अपने वंश को सद्गुणी बनाने के लिये ऐसे प्रबन्ध रच रखे थे, कि उन में कोई अनार्य उत्पन्न ही न हो, इस लिए उन के वंश आर्यवंश कहलाए, उन सब की एक जाति आर्य जाति के नाम से और देश आर्यावर्त के नाम से प्रसिद्ध हुआ, और आर्य जाति के प्रतियोग में अनार्य जातियां दस्यु जातियां कहलाईं। जाति नाम होजाने पर भी यह जाति अपने नाम के वास्तव महत्त्व को अनुभव करती रही है, और अपने जीवन में वास्तविक आर्यत्व दिखलाती रही है। जैसाकि यह वचन बतलाता है—

जातो नार्यामनार्यायामार्यादार्यो भवेद् गुणैः।
जातोऽप्यनार्यादार्यायामनार्य इति निश्चयः॥

(मनु १०। ६७)

अनार्या नारी में से जो एक आर्य से उत्पन्न हुआ है, वह गुणों से आर्य होगा। पर अनार्य से आर्या में से भी उत्पन्न हुआ पुरुष (गुणों से) अनार्य होता है, यह पक्का निश्चय है॥

कवि कालिदास भी आर्यत्व के इस महत्त्व को कैसे सुंदर रूप में वर्णन करते हैं। जब कि शकुन्तला को देखकर दुष्यन्त का मन उसमें अनुरक्त होगया है, तो दुष्यन्त के मन में शंका

उठती है, कि क्या यह क्षत्रिय की पत्नी होने योग्य तो है, कहीं मेरे मन ने असन्मार्ग में तो पाओं नहीं रख दिया है। तब इस आशंका को मिटाता हुआ दुष्यन्त कहता है—

असंशयं क्षत्रपरिग्रहक्षमा यदार्य मस्यामभिलाषि मे मनः।
सतां हि संदेहपदेषु वस्तुषु प्रमाणमन्तः करण प्रवृत्तयः॥

निःसंदेह यह एक क्षत्रिय की पत्नी होने योग्य है, जब कि मेरा आर्य मन इस में अनुरक्त हुआ है। क्योंकि संदेह वाली बातों के विषय में भले पुरुषों (आर्यों) के मन की प्रवृत्तियें प्रमाण होती हैं (आर्य मन स्वभावतः उसी में प्रवृत्त होगा, जो उस के लिए धर्म है, यह हो नहीं सकता, कि आर्य मन स्वभावतः कभी पाप में प्रवृत्त हो)।

वर्तमान आर्य—सो आर्य वंशों में उत्पन्न हुए वर्तमान आर्यों को अब अपने इस सच्चे आर्यत्व को पहचानना चाहिये।

उदाहरण—नारद ने वाल्मीकि के लिए आर्य राम का वर्णन इस प्रकार किया है—

इक्ष्वाकुवंशप्रभवो रामो नाम जनैः श्रुतः।
नियतात्मा महावीर्यो द्युतिमान् धृतिमान् वशी॥८॥
बुद्धिमान् नीतिमान् वाग्मी श्रीमाञ्छत्रु निबर्हणः।
विपुलांसो महाबाहुः कम्बुग्रीवो महाहनुः॥९॥
महोरस्को महेष्वासो गूढजत्रुररिन्दमः।
आजानुबाहुः सुशिराः सुललाटः सुविक्रमः॥१०॥
समः समविभक्तांगः स्निग्धवर्णः प्रतापवान्।
पीनवक्षाः विशालाक्षो लक्ष्मीवा ञ्छुभलक्षणः॥११॥
धर्मज्ञः सत्यसन्धश्च प्रजानां च हिते रतः।
यशस्वी ज्ञानसम्पन्नः शुचिर्वश्यः समाधिमान्॥१२॥

प्रजापतिसमः श्रीमान् धाता रिपुनिषूदनः।
रक्षिता जीवलोकस्य धर्मस्य परिरक्षिता ॥१३॥
रक्षिता स्वस्य धर्मस्य स्वजनस्य च रक्षिता।
वेदवेदांगतत्त्वज्ञो धनुर्वेदे च निष्ठितः ॥१४॥
सर्वशास्त्रार्थतत्त्वज्ञः स्मृतिमान् प्रतिभानवान्।
सर्वलोकप्रियः साधुरदीनात्मा विचक्षणः ॥१५॥
सर्वदाभिगतः सद्भिः समुद्र इव सिन्धुभिः।
आर्यः सर्वसमश्चैव सदैव प्रियदर्शनः ॥१६॥
(वाल्मीकिरामायण बाल काण्ड सर्ग १)

इक्ष्वाकु वंश से प्रकट हुआ जगद् विख्यात राम है, जिसका मन स्थिर है, शक्ति महती है, चेहरे पर कान्ति बरसती है, मन में धैर्य है, अपने आप को अपने वश में रखे हुए है ॥८॥ बुद्धिमान्, नीतिमान्, मधुरभाषी, शोभावाला, शत्रुओं को उखाड़ फैंकने वाला है, जिस के कन्धे मोटे, भुजाएं लम्बी, ग्रीवा शंख की न्याई (तीन रेखा वाली) और ठोडी बड़ी है ॥९॥ जिस की छाती विशाल है, दोनों हंसलियें (मांस से) ढकी हैं, जिसका धनुष बहुत बड़ा है, और जो शत्रुओं को सिधाने वाला है। जिस की भुजाएं गोड़ों तक लम्बी हैं, सिर समगोल है, सुप्रशस्त ललाट, और सुन्दर चाल वाला है ॥१०॥ जिस के शरीर की बनावट सारी एक समान है और अंग सब खुले और एक दूसरे के अनुरूप हैं, जिस का रंग गूढ़ा, प्रताप सब पर छाजाने वाला, छाती पीन (पीडी), और नेत्र विशाल हैं। जो शोभा से पूर्ण और शुभ लक्षणों वाला है ॥११॥ जो धर्मज्ञ, सच्ची प्रतिज्ञा वाला, प्रजाओं के हित में रता हुआ, यशस्वी, ज्ञान में परिपूर्ण, (बाहर अन्दर से) शुद्ध सरल (बड़ों का) वशवर्ती, और चित्त को कभी

न डुलाने वाला है ॥१२॥ (दक्ष आदि) प्रजापतियों के समान वह श्रीमान् प्रजाओं का धारणपोषण करने वाला और उन के शत्रुओं का नाश करने वाला है, जीवलोक का रक्षक, और धर्म की मर्यादा का रक्षक है ॥१३॥ अपने धर्म का रक्षक, अपने जन का रक्षक, वेद वेदाङ्ग का तत्त्व जानने वाला, धनुर्वेद में पूरा गुणी ॥१४॥ सारे शास्त्रों का तत्त्वदर्शी, स्मृतिमान् और प्रतिभाशाली, *सब का प्यारा, सब के काम संवारने वाला है, जिस के आत्मा में दीनता कभी (बड़ी २ विपत्तियों में भी) नहीं आई और जो बड़ा निपुण है ॥१५॥ नदियों से समुद्र की नाई सर्वदा भले मनुष्यों से चारों ओर से घिरा हुआ, सच्चा आर्य † सब में सम (पक्षपात रहित, एक जैसा वर्तने वाला) और सदा ही प्यारे दर्शन वाला है ॥१६॥

यह है आर्य जीवन की महिमा, जो पुरुष मनुष्य जीवन को ऐसा महान् बनाने की चेष्टा करेगा, वही आर्य नाम को सार्थक करेगा ।

*स्मृति-जाने हुए का याद रखना, और प्रतिभा-नया सूझना ।

†यह एक आर्य का आदर्श जीवन है, जो इन श्लोकों में वर्णन किया है ।

आर्य-जीवन

पूर्वार्ध

प्रातिस्विक-जीवन

उठने का समय और पहला कर्तव्य

नाम नाम्ना जोहवीति पुरा सूर्यात् पुरोषसः । यदजः प्रथमं संबभूव स ह तत् स्वराज्य मियाय य-स्मान्नान्यत् परमस्ति भूतम् ॥

(अथर्व० १० । ७ । ३१)

सूर्य से पहले और उषा से पहले नाम नाम से उसे बार २ पुकारे, जो अजन्मा है, (अतएव इस जगत् से) पहले प्रकट है, वह निःसंदेह जगत् प्रसिद्ध स्वराज्य को पाये हुए है, जिस से बढ़ कर कोई सत्ता नहीं है ।

यह मन्त्र आज्ञा देता है, कि सूर्य से पीछे कभी न उठो, सूर्य से पहले उठो, और उत्तमता यह है, कि उषा से भी पहले उठो । और उठकर सब से पहिले उसका नाम लो, उसका धन्यवाद गाओ, जिस का इस सारे विश्व पर एकाधिपत्य राज्य है। उस के साथ सम्बन्ध जोड़ने से जीवन में बल आता है ।

उषा के फूटने का दृश्य ।

उषा से पहले उठे हो, तो अब उषा के दृश्य को वैदिक दृष्टि से देखो । वेद में जो दिव्य दृश्य वर्णन किये हैं, वे निरे दृश्य नहीं किन्तु उन से परमेश्वर की महिमा और उस दृश्य के द्वारा हमारे ऊपर होने वाले उपकार दिखलाना अभिप्रेत होता है, सो तुम इसी रूप में वैदिक दृश्यों को देखो—

इदं श्रेष्ठं ज्योतिषां ज्योतिरागाच्चित्रः प्रकेतो अजनिष्ठ विभ्वा। यथा प्रसूता सवितुः सवाय एवा रात्र्युषसे योनिमारैक् (ऋ० १।११३।१)

यह ज्योतियों में श्रेष्ठ ज्योति आई है, यह रंगीला दृश्य (आकाश में) फैलता जारहा है। जैसे उषा * सूर्य की प्रवृत्ति के लिए स्थान छोड़देती है, वैसे रात्री ने उषा के लिए स्थान छोड़ दिया है।

इस से आर्यजीवन का यह अंग भी दिखलादिया है, कि एक आर्य को अपना निवास वहां रखना चाहिये, जहां दिव्य दृश्य उस के सम्मुख आते रहें। आजकल के शहरी घर जहां ये दृश्य देखने को नहीं मिलते, आर्यजीवन के विरुद्ध हैं। इन दृश्यों के देखने से प्रसन्नता बढ़ती है, स्वास्थ्य बढता है, प्रसन्न वदन रहने का स्वभाव बनता है, और ईश्वर की महिमा से पूरित इन दृश्यों को देखने से आत्मबल बढ़ता है, और ये सभी बातें लोक में कार्य सिद्धि का मूल हुआ करती हैं।

पृथूरथो दक्षिणाया अयोज्यैनं देवासो अमृतासो अस्थुः। कृष्णादुदस्थादर्या विहाया चिकित्सन्ती मानुषाय क्षयाय (ऋ० १।१२३।१)

उषा का विशाल रथ जुड गया है, इस पर मरण रहित देवता (किरणें) सवार हुए हैं, रानी उषा मनुष्यसमुदाय के लिए चिकित्सा करती हुई काले आकाश से उठ खड़ी है॥

* प्रसूता=जिसने किसीको जन्म देदिया है, यहां उषा अभिप्रेत है, जो सूर्य को जन्म देती है।

इस से बोधन किया है, कि सवेरे उठने वाले नीरोग रहते हैं, और यह, कि तमोमय स्थान रोग का मूल होते हैं, उन की चिकित्सा यही है, कि वहां खुले प्रकाश के द्वार खोल दो।

गृहं गृहमहना यात्यच्छा दिवे दिवे अधिनामा दधाना। सिषासन्ती द्योतना शश्वदागादग्र मग्र मित् भजते वसूनाम् (ऋ० १।१२३।४)

उषा दिन पर दिन सवाया रूप धारती हुई घर २ की ओर जाती है, यह कुछ देना चाहती हुई चमकती हुई सदा आती है, और अपने कोषों में से आगे आगे बांटती ही जाती है।

श्लाघनीय जीवन यह है, कि मनुष्य का मस्तक सदा खिला रहे, चेहरा चमकता रहे, दूसरों की भलाई की इच्छा उस में बनी रहे, अपना ऐश्वर्य बढाता रहे, और बांटता रहे।

सह वामेन न उषो व्युच्छा दुहितर्दिवः।
सह द्युम्नेन बृहता विभावरि राया देवी दास्वती॥
(ऋग्० १।४८।१)

हे उषा हे द्यौ की कन्या हमारे लिए सुहावने मनोरम द्रव्य के साथ खिल, हे प्रकाश से भरी हुई बड़े यश तेज और महत्त्व के साथ खिल, हे देवि दानशीला बनकर ऐश्वर्य के साथ खिल।

तेरा आगमन हमारे लिये यश तेज महत्त्व और ऐश्वर्य का लाने वाला हो, अर्थात् हम इस नए दिन को यश तेज महत्त्व और ऐश्वर्य की प्राप्ति से सफल बनावें। ऐसा चिन्तन करने से मनुष्य उद्योगी और धर्मशील बनता है।

उवासोषा उच्छाच्च नु देवी जीरा रथानाम्।

येअस्या आचरणेषु दध्रिरे समुद्रे न श्रवस्यवः ॥

(ऋग्० १। ४८। ३)

उषा अन्धकार को सदा मिटाती आई है, वह अब फिर खिले, यह वह देवी है, जो उन के रथों को आगे बढाती है, जो इस के आने पर सन्नद्ध हो जाते हैं, जैसे धन और यश की कामना वाले समुद्र में (जहाज ले जाने को तय्यार होते हैं)।'

श्लाघ्य जीवन वह है, जो सदा अन्धकार के मिटाने में प्रवृत्त रहे। जो लोग उषा का प्रकाश आते ही काम करने के लिए कटिबद्ध हो जाते हैं, उन के रथ इस लोक में आगे बढते हैं, अर्थात् जीवन की इस घुड़दौड़ में वही सब से आगे रहते हैं। और दूसरे उस की पहुंच को नहीं पहुंच सकते, जो इस अमृत वेले सोए पड़े रहते हैं।

"जैसे धन और यश की कामना वाले समुद्र में" इस उपमा से यह दिखलाया है, कि उषा के समय जागने वालों में उत्साह और साहस बढते हैं, उत्साही और साहसी ही धन और यश की कामना से समुद्रों के पार पहुंचते हैं। इस से समुद्र में से, वा समुद्र के पार से धन लाने और यश के झंडे गाडने को एक श्लाघ्य कर्म बतलाया है। अत एव यह निःसंदेह है, कि समुद्रयात्रा का निषेध जीवन की इस महिमा को भूल जाने पर हुआ है।

इस प्रकार पुरुष नेत्रों से परमेश्वर की महिमा देखता हुआ और मन में शुभ संकल्प लाता हुआ नए दिन का स्वागत करे।

आरोग्य, बल और आयु

हर एक आर्य का धर्म है, कि अपने शरीर और इन्द्रियों

की रक्षा और पालन पोषण ऐसी सावधानी से करे, कि सदा स्वस्थ रहे, बलवान् और आयुष्मान् हो, और अपने जीवन में इस वैदिक आदर्श को प्रत्यक्ष दिखला सके कि—

वाङ्म आसन् नसोः प्राणश्चक्षुरक्ष्णोः श्रोत्रं कर्णयोः । अपलिताः केशा अशोणा दन्ता बहु बाह्वोर्बलम् ॥१॥ ऊर्वोरोजो जङ्घयोर्जवः पादयोः प्रतिष्ठा । अरिष्टानि मे सर्वात्मा निभृष्टः ॥२॥

(अथर्व १९ । ६०)

मेरे मुख में वाणी है (मुझ में अपने मन के भाव प्रकट करने की शक्ति है, और मुझे अपने भाव प्रकट करने में किसी का भय नहीं है) मेरे नथनों में प्राण है (मैं जीता जागता हूं, अतएव जीवन के लक्षण दिखला सकता हूं) मेरे नेत्रों में दृष्टि है और कानों में श्रुति है (मैं यथार्थ देखता हूं और यथार्थ सुनता हूं) मेरे बाल श्वेत नहीं हैं, मेरे दांत लाल नहीं हैं, (न उन से रुधिर बहता है न मैले हैं) मेरी भुजाओं में बड़ा बल है ॥१॥ मेरी रानों में शक्ति है, और मेरी जंघों में वेग है, मेरे दोनों पाओं में दृढ़ खड़ा होने की शक्ति है (मैं इस जीवन संग्राम में अपने पाओं पर खड़ा हूं, और उठ कर खड़ा हूं) मेरे सारे अंग पूर्ण और नीरोग हैं, मेरा आत्मा परिपक्व है (बलवान् और तेजस्वी) है ।

तनूस्तन्वा मे सहे दतः सर्वमायुरशीय । स्योनं मे सीद पुरुः पृणस्व पवमानः स्वर्गे ॥

(अथर्व० १९ । ६१)

मेरे शरीर के अन्दर फैलाने वाली शक्ति हो *, मैं पूर्ण आयु भोगूं। (इस लिए हे मेरे आत्मा) तू स्वर्ग † में अपने आप को पवित्र करता हुआ अनुकूल स्थान में बैठ ‡ और अपने आप को सर्वांग में पूर्ण बना।

---

* तनूः=फैलाने वाली शक्ति। शरीर का नाम तनू इसलिए है, कि उसमें अपने आप को फैलाने की शक्ति है। छोटे से बड़ा होता है, कोई क्षत आजाय, तो उसको अन्दर से भरता है। और सन्तान द्वारा भी अपने आपको फैलाता है। "मेरे शरीर के अन्दर फैलाने वाली शक्ति अर्थात् क्षति को पूर्ण करने वाली और शरीर को वृद्धि देने वाली शक्ति विद्यमान हो।

† स्वर्ग=प्रकाशमान और सुखमय स्थान, जहां सूर्य चन्द्र और तारगण के खुले प्रकाश से बाह्य देश और विद्या के प्रकाश से हृदय देश प्रकाशित रहते हैं।

‡ स्योने=सुखदायक स्थान में=अनुकूल स्थान में 'अनुकूल स्थान में बैठ, अर्थात् अनुकूल देश और अनुकूल परिस्थिति में रह। दीपक की खुले और निर्वात स्थान में स्थिति और युक्त परिमाण में तेल का मिलते जाना यह दीपक का अनुकूल परिस्थिति में रहना है। दीपक जबतक ऐसी अनुकूल परिस्थिति में रहेगा, बराबर जलता रहेगा। जब तक प्रतिकूल स्थिति में न हो, बुझेगा नहीं। दीपक के लिये प्रतिकूल स्थिति यह है, कि वायु मिले ही न, वा वायु का प्रबल झोंका लगे, वा तेल चुक जाय। ऐसा न हो, तो दीपक तब बुझेगा, जब शिथिल हो हो कर बड़े दीर्घकाल के पीछे स्वयं टूट पड़ेगा। इसी प्रकार जीवन का दीपक भी तब तक नहीं बुझता, जब तक अनुकूल परिस्थिति में रहता है। यह दीपक भी किसी प्रतिकूल परिस्थिति में ही बुझता है, और यदि सदा अनुकूल परिस्थिति में रहे, तो बड़े दीर्घकाल के पीछे जीर्ण शीर्ण होकर बुझता है। इसलिए अनुकूल परिस्थिति में रहना दीर्घजीवन का बड़ा भारी हेतु है।

आरोग्य बल और आयु के लिए प्रार्थनाएं (अर्थात् ईश्वर से सहायता मांगना)

तनूपा अग्नेसि तन्वं मे पाह्या युर्दा अग्ने स्यायुर्मे देहि वर्चोदा अग्नेसि वर्चो मे देहि । अग्ने यन्मे तन्वा ऊनं तन्म आपृण । (यजु० ३।१७)

हे अग्ने ! तू शरीर का रक्षक है, मेरे शरीर की रक्षा कर हे अग्ने ! तू आयु का देने वाला है, मुझे आयु दे, हे अग्ने तू कान्ति का देने वाला है, मुझे कान्ति दे, हे अग्ने जो मेरे शरीर की ऊनता है, वह मेरी पूर्ण कर दे ।

तेजोसि तेजो मयि धेहि वीर्यमसि वीर्यं मयि धेहि बलमसि बलं मयि धेहि मन्युरसि मन्युं मयि धेहि सहो सि सहो मयि धेहि (यजु १९।।९)

तू तेज है, मुझ में तेज स्थापन कर । तू शक्ति है, मुझ में शक्ति स्थापन कर । तू बल है, मुझ में बल स्थापन कर । तू ओज (प्रयत्न शक्ति) है, मुझ में ओज स्थापन कर । तू मन्यु है मुझ में मन्यु स्थापन कर । तू सहनशक्ति है, मुझ में सहनशक्ति स्थापन कर ।

सो प्रत्येक आर्य का धर्म है, कि शौच स्नान रहन सहन खान पान सब ऐसा रक्खें, जिससे उसका स्वास्थ्य शक्ति और आयु बढे । विशेषतः व्यायामशील हो क्योंकि—

लाघवं कर्मसामर्थ्यं विभक्तघनगात्रता ।
दोषक्षयोऽग्निवृद्धिश्च व्यायामादुपजायते ।१।

व्यायाम दृढ गात्रस्य व्याधिर्नास्तिकदाचन।
विरुद्धं वा विदग्धं वा भुक्तं शीघ्रं विपच्यते ।२।
भवन्ति शीघ्रं नैतस्य देहे शिथिलतादयः ।
नचैनं सहसा क्रम्य जरा समधिरोहति ।३।

व्यायाम से शरीर हलका होता है काम करने की शक्ति आती है, अलग २ सारे अंग पीन (पीडे) हो जाते हैं, (कफ आदि) दोष दूर होते हैं, और जाठराग्नि बढता है।१। व्यायाम से दृढ अंगों वाले को रोग नहीं दबाता, विरुद्ध वा अधकच्चा भोजन भी शीघ्र पच जाता है।२। इसके शरीर में शिथिलता आदि जल्दी नहीं होते, और न बुढ़ापा उसको दबा कर सवार होता है।३।

व्यायाम से अभिप्राय शारीरिक परिश्रम के हर एक कार्य से है। निरा दण्ड आदि का ही नाम नहीं। व्यायाम सब से उत्तम वही है, जो घर के काम काज में होता है, इसलिए घर के काम काज में लज्जा कभी नहीं करनी चाहिए॥

बुद्धिबल

यां मेधां देवगणाः पितरश्चोपासते। तया मामद्य मेधयाऽग्ने मेधाविनं कुरु स्वाहा (यजु ३२।१४)

जिस मेधा*को देवगण और पितर सेवन करते हैं, उस मेधा से हे अग्ने मुझे मेधावी बना।

* मेधा=धारणावती बुद्धि। अर्थात् ऐसी बुद्धि, कि जो कुछ हम जानें, वह भूले नहीं, जिससे कि हमारा पूर्वानुभव सदा हमारा सहायक रहे।

चरित्र बल

परिमाग्ने दुश्चरिताद् बाधस्वामा सुचरिते भज।
उदायुषा स्वायुषोदस्थाममृताँ अनु (यजु ४। २८)

हे अग्ने मुझे दुश्चरित से सदा बचाते रहो, और सुचरित में सदा चलाते रहो, जिससे कि मैं उच्च जीवन और पवित्र जीवन के साथ देवताओं की ओर उठूं।

यन्मे छिद्रं चक्षुषो हृदयस्य मनसो वाऽतितृण्णम्।
बृहस्पतिर्मे तद् दधातु शन्नो भवतु भुवनस्य यस्पतिः
(यजु० ३६। २)

जो मेरी आंख का छिद्र (दोष) है, वा मेरे हृदय का वा मनका गहरा गढा है, बृहस्पति (वेद वाणी का पति) मेरा वह भरदे। हमारे लिए कल्याणकारी हो,जो इस सारे भुवन का स्वामी है।

स्वयम्भूरसि श्रेष्ठो रश्मिर्वर्चोदा असि वर्चो मे देहि
सूर्यस्यावृतमन्वावर्ते (यजु २। २६)

तू स्वयम्भू है सबसे उत्तम है प्रकाशमय है, धार्मिक तेज का दाता है, मुझे धार्मिक तेज दे। सूर्य की प्रवृत्ति का मैं अनुसरण करता हूं (सूर्य अपने नियम को नहीं उलांघता, वह एक जीवन का पुंज है, और प्रकाशमय है, उसके उदय होने पर नए जीवन का संचार होता है, और अन्धकार मिटता है। ऐसी ही प्रवृत्ति जब एक आर्य की होजाती है,जब उसका जीवन धार्मिक तेज से पूर्ण होजाता है, जिससे औरों में भी नए जीवन और नए प्रकाश का संचार होता है, तब वह इस वचन का अधिकारी होता है—सूर्यस्यावृतमन्वावर्ते) ॥

मनोवक

यज्ज जाग्रतो दूरमुदैति दैवं तदु सुप्तस्य तथैवैति । दूरंगमं ज्योतिषां ज्योतिरेकं तन्मे मनः शिवसंकल्प मस्तु (यजु ३४ । १)

जो देव (दैवी शक्तिरूप) मन जागते हुए का दूर निकल जाता है (दूर २ की बातें मनुष्य को सुझाता है) और कि वैसे ही सोए हुए का चला जाता है, यह जो दूर जाने वाला ज्यो तियों की एक ज्योति है(सारे इन्द्रियों का प्रकाशक) है, वह मेरा मन सदा शिवसंकल्प (कल्याणदायक संकल्पों वाला) हो ।

येन कर्माण्यपसो मनीषिणो यज्ञे कृण्वन्ति विद-थेषु धीराः । यदपूर्वं यक्षमन्तः प्रजानां तन्मे मनः शिव संकल्प मस्तु । २ ।

कर्मवीर मेधावी धीर पुरुष जिसके द्वारा परोपकार के कामों में और जीवन के संग्रामों में बड़े २ कर्म कर दिखलाते हैं, जो सारी प्रजाओं के अन्दर एक अपूर्व अध्यात्म शक्ति है, वहमेरा मन शिवसंकल्प हो ।२।

यत् प्रज्ञानमुत चेतो धृतिश्च यज् ज्योति रन्त रमृतं प्रजासु । यस्मान्न ऋते किञ्चन कर्म क्रियते तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥३॥

जो नया २ ज्ञान देता है,पिछले जानेहुए का स्मरण कराता है, और धैर्य देता है, जो सारी प्रजाओं के अन्दर एक अमृत ज्योति है, जिसके विना कोई भी कर्म नहीं किया जाता, वह मेरा मन शिवसंकल्प हो ।

"जिस के विना कोई भी कर्म नहीं किया जाता"। बाह्य इन्द्रिय केवल इतना काम करते हैं, कि बाहर के दृश्य को अन्दर मन के पास पहुंचादें, अब मन इस बात का निश्चय करता है, कि यह वस्तु मेरे लिए उपयुक्त है, वा अनुपयुक्त है उपयुक्त समझे तो कर्मेन्द्रियों को उस के प्राप्त करने के लिए प्रेरता है, तब कर्मेन्द्रियों की उस में प्रवृत्ति होती है, अनुपयुक्त समझे तो कर्मेन्द्रियों को उस से हटने के लिए प्रेरता है तब कर्मेन्द्रियों की उस से निवृत्ति होती है। इस प्रकार बाह्य इन्द्रियों से देखे दृश्यों में भी प्रवृत्ति निवृत्ति मनकी आज्ञा विना नहीं होती।

दूसरी ओर मनुष्य किसी काम के करने का पहले मन में ध्यान करता है, फिर वाणी से कहता है, और फिर कर दिखलाता है। और कभी २ मनमें ध्यान करता है, वाणी से भी कहता है, पर करके नहीं दिखलाता। और कभी २ ऐसा भी होता है, कि मन में ध्यान करता है, वाणी से नहीं कहता, पर करके दिखला देता है। और कभी ऐसा भी होता है, कि मन में ध्यान करता है, पर न वाणी से कहता है, न करके दिखलाता है। पर कभी ऐसा नहीं होता, कि मन में न आए, और वाणी से कहे, वा मन में न आए, और करके दिखलाए, इसलिए मानस वाचिक और कायिक हर एक कर्म का मूल मन है, अतएव जब मन शिवसंकल्प हो, तो मानस वाचिक कायिक सभी कर्म पुण्यमय बन जाते हैं।

येनेदं भूतं भुवनं भविष्यत् परिगृहीत ममृतेन

सर्वम् । येन यज्ञस्तायते सप्त होता तन्मे मनः शिव-संकल्प मस्तु । ४ ।

जिस अमृत (मन) से यह भूत भविष्यत् वर्तमान सब यथार्थ जाना जा सकता है, जिससे सात होतावाला यज्ञ विस्तीर्ण किया जाता है, वह मेरा मन शिवसंकल्प हो ।

नेत्र आदि इन्द्रियों से हम वर्तमान को ही जानते हैं, भूत भविष्यत् को नहीं, और वर्तमान भी वही, जो प्रत्यक्ष के योग्य हो, प्रत्यक्ष के अयोग्य वर्तमान भी बाह्य इन्द्रियों का विषय नहीं होता, जैसे परमाणु, पर मन में वह शक्ति है, कि भूत भविष्यत् वर्तमान दृश्य अदृश्य सबका यथार्थज्ञान करा देता है।

हर एक जीवधारी के जीवन रक्षा का यज्ञ, जिसके दो नेत्र दो श्रोत्र, दो नथने, और सातवीं जिह्वा, ये सात होता चलाने वाले हैं, इस यज्ञ का विस्तार (लगातार प्रवृत्ति) भी मन के ही आधीन है।

यस्मिन्नृचः साम यजूꣳषि यस्मिन् प्रतिष्ठिता रथना-भाविवाराः । यस्मिँश्चित्तꣳसर्वमोतं प्रजानां तन्मे मनः शिवसंकल्प मस्तु ।५।

जिसमें ऋचाएं, साम और यजु इस प्रकार टिक कर रहते हैं, जैसे कि रथ की नाभि में अरे टिकते हैं, हां जिसमें प्रजाओं की सारी ही विद्या प्रोई रहती है,वह मेरा मन शिवसंकल्प हो॥

सुषारथि रश्वा निव यन्मनुष्यान् नेनीयतेऽभी-शुभिर्वाजिन इव । हृत्प्रतिष्ठं यदजिरं जविष्ठं तन्मे मनः शिव संकल्प मस्तु ॥

सुशिक्षित सारथि जिस प्रकार (रथ के) वेगवान् घोड़ों को वागों से अपने अनुसार चलाता है, इस प्रकार जो मनुष्यों को (अपनी इच्छा पर) चलाता है, जो हृदय में रहने वाला बड़ा फुर्तीला और बड़े वेगवाला है,वह मेरा मन शिवसंकल्प हो ॥

प्रातिस्विक जीवन के विषय में शास्त्रान्तरों के वचन ।

धर्मार्थ काम मोक्षाणां प्राणाः संस्थिति हेतवः ।
तान् निघ्नता किं न हतं रक्षता किं न रक्षितम् ॥

धर्म अर्थ काम और मोक्ष इन चारों पुरुषार्थों की स्थिति के कारण प्राण हैं, उनका नाश करने वाले ने किसका नाश नहीं किया, और रक्षा करने वाले ने किस की रक्षा नहीं की ।

उद्धरेदात्मना त्मानंनात्मानमवसादयेत् ।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ॥ ५ ॥
बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनात्मैवात्मनाजितः ।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वेवर्त्तेतात्मैव शत्रुवत्व ॥६॥ (गीता अ० ६

स्वयं अपना उद्धार करें, अपने आप को नीचे न गिरावें, क्योंकि आपही अपना बन्धु है, और आपही अपना शत्रु है ।५। उसका आत्मा अपना बन्धु है, जिसने स्वयं अपने आत्मा को अपने वस में कर लिया है, पर जिसका आत्मा अपने वस में नहीं है, उसका आत्मा ही शत्रुता में शत्रुवत् वर्तता है ।६।

य आत्मनाऽपत्रपते भृशं नर स सर्वलोकस्य गुरुर्भवत्युत ।
अनन्त तेजाः सुमनाः समाहितः स तेजसा सूर्यइवावभासते ॥
(महाभारत उद्योग० ३४ । १२१)

जो मनुष्य (किसी अन्याय्य कर्म के करने में और न्याय्य कर्म की उपेक्षा करने में) स्वयं (अपने आप में) अत्यन्त

लज्जा अनुभव करता है, वह जगद्गुरु बनता है, जिसके अंदर अनन्त तेज है, जिसका मन प्रसन्न रहता है, बुद्धि स्थिर रहती है, वह तेज से सूर्य की नाईं चमकता है।

यथा यथा हि पुरुषः कल्याणे कुरुते मनः।
तथा तथाऽस्य सर्वार्थाः सिध्यन्ते नात्र संशयः॥
(महाभारत उद्योग० ३९। ४१)

जैसे २ पुरुष कल्याण में मन लगाता है, वैसे २ इसके सारे कार्य सिद्ध होते हैं, इसमें संशय नहीं।

यात्यधोऽधोव्रजत्युच्चैर्नरः स्वैरेव कर्मभिः।
कूपस्य खनिता यद्वत् प्राकारस्य च कारकः॥

अपने ही कर्मों से मनुष्य नीचे २ वा ऊपर २ जाता हैं, जैसे कुएं का खोदने वाला और कोट का बनाने वाला।

वृत्तं यत्नेन संरक्षेद् वित्तमेति च याति च।
अक्षीणो वित्ततः क्षीणो वृत्ततस्तु हतो हतः (महाभा०)

वृत्त (चरित्र) की यत्न से रक्षा करे, वित्त (धन) आता है और जाता है, वित्त से क्षीण हुआ क्षीण नहीं, पर वृत्त से गिरा हुआ तो मरा ही हुआ है।

निन्दन्तु नीतिनिपुणा यदि वा स्तुवन्तु लक्ष्मीः समाविशतु गच्छतु वा यथेष्टम्। अद्यैव वा मरण मस्तु युगान्तरे वा न्याय्यात् पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः (भर्तृहरि)

नीति निपुण पुरुष चाहे निन्दा चाहे स्तुति करें, लक्ष्मी आए और चाहे भले ही चली जाए, आज ही मरना हो, वा युगान्तर में हो, पर धीर पुरुष न्याय्य मार्ग से एकपद नहीं हिलाते॥

प्रातिस्विक जीवन के उच्च होने पर पारिवारिक जीवन और सामाजिक जीवन स्वयमेव उच्च होजाता है, इसलिए प्रत्येक

व्यक्ति को अपना निज का जीवन उच्च बनाने का प्रयत्न पूरा करना चाहिए।

यह याद रखना चाहिए, कि प्रत्येक व्यक्ति के कर्तव्य-जो अपने बड़ों भाई बन्धों परिवार और समाज की ओर हैं, वे जहां परिवार और समाज की उन्नति का अंग है, वहां अपनी निज की उन्नति का भी अंग हैं। उनको पूरा किए बिना प्रातिस्विक जीवन उन्नत नहीं कहला सकता, इसलिए प्रत्येक पुरुष का कर्तव्य है, कि वक्ष्यमाण पारिवारिक जीवन और सामाजिक जीवन को भी वैसाही उन्नत करने की चेष्टा करे, जैसे प्रातिस्विक जीवन को।

पारिवारिक जीवन

गृहाश्रम में प्रवेश का अधिकार किसको है?

गृहा मा बिभीत मा वेपध्व मूर्जं बिभ्रत एमसि। ऊर्जं बिभ्रद् वः सुमनाः सुमेधा गृहानैमि मनसा मोदमानः ॥४१॥

येषा मध्येति प्रवसन् येषु सौमनसो बहुः। गृहानुपह्वयामहे तेनो जानन्तु जानतः ॥४२॥

उपहूता इह गाव उपहूता अजावयः। अथो अन्नस्य कीलाल उपहूतो गृहेषु नः। क्षेमायवः शान्त्यै प्रपद्ये शिवꣳशग्मꣳशंयोः शंयोः ॥४३॥

(यजु० अ० ३)

हे गृहस्थो मत डरो, मत कांपो, मैं बल पराक्रम को धारण

करनेवालों के निकट आया हूं, तो स्वयं पराक्रम को धारण करके उदार हृदय और गम्भीर मेधा से युक्त होकर हर्ष भरे मन के साथ तुम गृहस्थों के निकट आता हूं। (इससे बोधन किया है, कि गृहाश्रम का अधिकार उसको है, जिसके शरीर में पराक्रम है, हृदय उदार है, और मेधा गम्भीर है, यदि ऐसा न होकर गृहाश्रम में प्रवेश करता है, तो पहिले गृहस्थों को उससे डरना चाहिए। उसका आना गृहाश्रम का महत्त्व बढाएगा नहीं, घटाएगा, जब कि वह इस भार को उठाकर सिर को ऊंचा नहीं रख सकेगा) ॥ ४१ ॥ प्रदेश में जाकर पुरुष जिनको स्मरण करता है, जिनमें बड़ी भारी उदारता है, हम उन गृहस्थों को अपने निकट बुलाते हैं, वे हम पहचानते हुओं को पहचानें (गृहाश्रम में प्रवेश करने वाला उन गृहस्थों से सम्बन्ध जोड़े, जो ऐसे सद्गुणी और विशालहृदय हों, कि प्रदेश में जाकर उनको मिलने की उत्कण्ठा बढ़े, स्वयं ऐसे गुणियों का पहचानने वाला हो, उनकी कदर करे, और ऐसे रहन सहन से रहे, कि वे भी इसकी कदर करें) ॥ ४२॥

यहां हमने गौओं का स्वागत किया है, भेड और बकरियों का स्वागत किया है, और अन्न के सार का स्वागत किया है, वह सदा हमारे घरों में बना रहे *। (हे गृहस्थो !) मैं क्षेम (रक्षा=सलामती) के लिए शांति के लिए तुम्हारी शरण

* उपहूताः निकट बुलाया है। अर्थात् हम इनको बड़े आदर से स्वीकार करते हैं, हमारे घरों में दूध दही माखन और बल पुष्टि आरोग्यदायक अन्न की बहुतायत होगी।

लेता हूं*, कल्याण हो मुझ कल्याण चाहने वाले को, आनन्द हो, मुझ आनन्द चाहने वाले को† ॥

अथर्ववेद काण्ड ७ सूक्त ६२ में यही उपदेश इस प्रकार दिए हैं।

ऊर्जं बिभ्रद् वसुवनिः सुमेधा अघोरेण चक्षुषा मित्रियेण । गृहानैमि सुमना वन्दमानो रमध्वं मा बिभीत मत । (अथर्व ७।६२।१)

पराक्रम को धारण कर, ऐश्वर्य और भलाई का प्रेमी बन, उत्तम मेधा और उदार मन से युक्त हुआ, आदर मान करता हुआ मैं कभी प्रतिकूल न होने वाली मित्र के योग्य दृष्टि से गृहस्थों में प्रविष्ट होता हूं । हे गृहस्थो मेरे साथ आनन्द मनाओ मुझसे मत डरो ।

गृहाश्रम का अधिकारी वह है, जो पराक्रमी है, ऐश्वर्य और भलाई का प्रेमी है, उत्तम मेधा और उदार मन वाला है, जिसके मन में गृहस्थों के लिए आदर मान है, जो गृहस्थों को कभी प्रतिकूल दृष्टि से नहीं देखेगा, अपितु मित्र की दृष्टि से देखता हुआ सर्वाजनिक कार्यों में भाग लेगा ।

इमे गृहा मयोभुव ऊर्जस्वन्तः पयस्वन्तः ।
पूर्णा वामेन तिष्ठन्तस्ते नो जानन्त्वायतः ।२।

---

* ब्रह्मचर्य को पूर्ण कर चुके युवा पुरुष के आगामी जीवन के लिए गृहाश्रम क्षेम और शांति का स्थान है ॥

† क्षेम और शान्ति का मार्ग यही है, कि गृहस्थ ऐसा उच्च जीवन धारण करे, कि उसका गृहाश्रम काल ऐसा आनन्दमय बीते जैसा कि बालक के लिए क्रीड़ा समय बीतता है, और ऐसा सफल बीते, कि साथही भविष्यत् सुधर जाए ।

ये गृहस्थ, जो सुखों के उत्पन्न करने वाले हैं, पराक्रम से और शक्ति से पूर्ण है, उत्तम आहार से और दूध से पूर्ण हैं*, प्रत्येक उत्तम वस्तु से पूर्ण होकर स्थित हैं, वे हमें आते हुओं को स्वीकार करें † ॥

येषा मध्येति प्रवसन् येषु सौमनसो बहुः।
गृहानुपह्वयामहे ते नो जानन्त्वा यतः ॥३॥

परदेश में जाकर पुरुष जिनको स्मरण करता है, जिनमें बहुत भारी उच्च भाव विद्यमान हैं, उन गृहस्थों को हम निकट बुलाते हैं, वे हमें आते हुओं को स्वीकार करें ॥।

उपहूता भूरिधनाः सखायः स्वादुसंमुदः।
अक्षुध्या अतृष्या स्त गृहा मास्मद्द बिभीतन ॥४॥

मैंने बड़े धनवान, स्वादुवस्तुओं से आनन्द मनाते हुए आपस में एक दूसरे के साथी गृहस्थों को बुलाया है, तुम जो भूख और प्यास का अभाव साधन करने वाले हो ‡ हे गृहस्थो हम से मत डरो ¶ ॥

उपहूता इह गाव उपहूता अजावयः। अथो
अन्नस्य कीलाल उपहूतो गृहेषु नः ॥५॥

---

* ऊर्जस् पराक्रम, और आहार, पयस्, शक्ति और दूध।

† अक्षरार्थ-हमें आते हुओं को पहिचानें, अभिप्राय यह है, हमारे आगमन का स्वागत करें, वा स्वीकार करें।

‡ आप गए को अन्न जल देते हो, और दुर्भिक्ष को न आने देने का सामर्थ्य रखते हो।

¶ मैं भी तुम्हारे धन और सुखों की वृद्धि में तुम्हारा साथी बनूंगा, आप गए को अन्नजल दूंगा, और दुर्भिक्ष के अभाव साधक कार्यों में तुम्हारा साथी बनूंगा।

यहां (गृहाश्रम में) हमने गौओं का स्वागत किया है, भेड और बकरियों का स्वागत किया है, अन्न के सार का स्वागत किया है, यह सब सदा हमारे घरों में हो।

सूनृतावन्तः सुभगा इरावन्तो हसामुदः ।
अतृष्या अक्षुध्या स्त गृहा मास्मद् बिभीतन ।६।

हे गृहस्थो ! तुम जो मीठी और सच्ची वाणियों वाले, सौभाग्य वाले, अन्न जलों के मालिक, हंसी से आनन्द मनाते हुए, भूख और प्यास का अभाव साधन करने वाले हो, हम से मत डरो।

इहैव स्त मानुगात विश्वा रूपाणि पुष्यत ।
ऐष्यामि भद्रेण सह भूयांसो भवता मया ॥७॥

तुम यहां ही हो (मुझ से पहले गृहाश्रम में हो अत एव मेरे पूज्य हो) मत अनुगामी बनो (मेरे पूज्यो! सदा स्वतन्त्र बने रहो) सारे रूपों (महिमाओं=उन्नति के मार्गों) को पुष्ट करो, मैं भद्र (भला करने वाले गुण कर्म और वस्तुओं) के साथ तुम्हारे अन्दर प्रविष्ट होने लगा हूं, (परमात्मा करे, कि) तुम मेरे द्वारा समृद्धि शाली बनो।

इन मन्त्रों में गृहाश्रम का अधिकार उस को दिया है, जो पराक्रमी, उदार हृदय, गम्भीरबुद्धि, ऐश्वर्य और भलाई का प्रेमी, अपने ऊपर पूरा भरोसा रखने वाला, मन से कभी दीन हीन न होने वाला, गृहाश्रमियों को आदर की दृष्टि से देखने वाला, और गृहाश्रम का भार उठाने योग्य हो, और वह ऐसे गृहाश्रमियों के सम्बन्ध में रहे, जो इन गुणों में पूर्ण हैं, सार्वजनिक कार्यों के प्रेमी हैं। स्वयं भी उन के साथ मिल कर सार्वजनिक

कार्यों में योग दे जिस से दुर्भिक्ष मरी आदि प्रजापीड़क राक्षसों से कोई भी दुःखित न हो। अपने घर को दूध देने वाले पशुओं से और उत्तम अन्न से भरपूर रक्खे, उन गृहस्थों में रहे, जो प्रसन्न वदन हंसते खेलते जीते हैं, जिन के चेहरों पर सदा कान्ति बरसती रहती है, और स्वयं भी सदा प्रसन्नवदन हंसता खेलता गृहाश्रम का उपभोग करे।

गृहाश्रम में प्रवेश।

विवाह सम्बन्ध

गृभ्णामि ते सौभगत्वाय हस्तं मया पत्या जरदष्टिर्यथाऽसः। भगो अर्यमा सविता पुरन्धि र्मह्यं त्वादुर्गार्हपत्याय देवाः।३६। (ऋग् १०।८५)

(विवाह में वर वधू का हाथ पकड़ कर उसे सम्बोधित करता है) मैं सौभाग्य (सुखमय भविष्यत)=परस्पर के प्रेम भाव, ऐश्वर्य के उपभोग और सुसन्तति आदि सुख सन्तति के लिए) तेरा हाथ पकड़ता हूं, कि तू मुझ अपने पति के साथ बहुत बड़ी आयु को भोगने वाली बनें, हम दोनों को गृहपति बनने के लिए भगअर्यमा सविता और पुरन्धि देवताओं ने तुझे मेरे हाथ सौंपा है।

येनाग्निरस्या भूम्या हस्तं जग्राह दक्षिणम्।
तेन गृह्णामि ते हस्तं मा व्यथिष्ठा मया सह प्रजया च धनेन च ॥४८॥ (अथर्व १४।१)

जिस (महिमा) के साथ अग्नि ने भूमिका दहना हाथ ग्रहण किया है* उस (महिमा) से मैं तेरे हाथ को ग्रहण करता हूं, तू मेरे साथ मिलकर धन और प्रजा से कभी दुःखी न हो ॥

भगस्ते हस्तमग्रहीत् सविता हस्तमग्रहीत् ।
पत्नी त्वमसि धर्मणाऽहंगृहपति स्तव । ५१ ।

भग ने तेरा हाथ पकड़ा है सविता ने तेरा हाथ पकड़ा है † तू धर्ममर्यादा से मेरी पत्नी है, और मैं तेरा गृहपति हूं ।

ममेयमस्तु पोष्या मह्यं त्वादाद् बृहस्पतिः ।
मया पत्या प्रजावति संजीव शरदः शतम् ॥५२॥

यह स्त्री मुझ से पोषणीय होगी, बृहस्पति (वेद वाणी के अधिपति ने) तुझे मेरे सुपर्द किया है, मुझ पति के साथ मिलकर उत्तम सन्तानों से युक्त हुई तू सौ वर्ष उत्तम जीना जी ।

---

* भूमि का सारा जीवन अग्नि [घर्म=हरारत] से है, अतएव अग्नि भूमि का अधिपति है । 'भूमि का दहना हाथ ग्रहण किया है', यह औपचारिक वचन है—अर्थात् स्त्री का दहना हाथ पकड़ना उसी को शोभा देता है, और उसी को अधिकार है, जो उसके साथ एक प्राण होकर उस की शोभा और समृद्धि का वैसा ही साधक बना रहता है, जैसे अग्नि भूमि की शोभा और समृद्धि का का साधक है ॥

† अपने कर्तव्य की पूर्ति के लिए ईश्वर की सहायता चाहता हुआ वर कहता है, कि भग=ऐश्वर्य के स्वामी परमात्मा, सविता= धर्म की ओर प्रेरनेवाले परमात्मा ने तेरा हाथ पकड़ा है, अर्थात् वही मेरे इस हाथ पकड़ने की लाज रक्खे, अथवा मैंने भग= ऐश्वर्य वाला होकर और सविता=धर्म कार्यों में प्रेरने की शक्ति वाला बन कर तेरा हाथ पकड़ा है ।

अहं विष्यामि मयि रूपमस्या वेददित् पश्यन्मनसः कुलायम् । न स्तेयमद्मि मनसोदमुच्ये स्वयं श्रथ्नानो वरुणस्य पाशान् ॥५७॥

मैं इस के रूप को अपने अन्दर खोलता हूं, जिस को मैंने अपने मन का घोंसला देखते हुए प्राप्त किया है *, मैं इस से चोरी कुछ नहीं भोगूंगा, मैं अपने मन के साथ (वन्धन से) उन्मुक्त हुआ हूं, स्वयं वरुण की पाशों को खोला है †

इन मन्त्रों में विवाह सम्बन्ध में वर को वधू का दहना हाथ पकड़ने की विधि दिखलाते हुए हाथ पकड़ने का अधिकार और भार दोनों दिखलादिये हैं—अधिकारी वह है, जो धर्म वन्धन में ऐसा वन्धा हुआ है, कि उस की दृष्टि में अपनी धर्मपत्नी को छोड़ और सब स्त्रियें मातृवत् स्वसृवत् और दुहितृवत् रही हैं, और आगे भी रहेंगी, और अब यह वन्धन जिसने केवल अपनी पत्नी के लिए खोला है, जब कि यथाविधि यज्ञ कर के उस का पाणिग्रहण किया है । और ऐसे अद्वितीय प्रेम का उसे पात्र वनाना चाहता है, कि अपने हृदय में उस के रूप का चित्र

---

* मैं इस नारी का चित्र अपने हृदय के अन्दर धारण करता हूं, जो मेरे मनरूपी पक्षी का घोंसला है ।

† परमात्मा का जो यह वन्धन है, कि विना दोनों के शुद्ध प्रेम हुए कोई नर किसी नारीको गृहिणी न बनाए, सो इस नारी को मैं शुद्ध प्रेमका पात्र पाकर और पात्र वनकर अपने मन के साथ इस वन्धन से उन्मुक्त हुआ हूं, अर्थात् धर्ममर्यादा के अनुसार इस को पत्नी बनाया है । धर्म वन्धन के अन्दर स्थिर रहा हूं, उसे तोड़ा नहीं है, किन्तु अब उसे खोला है ।

खींच लेगा, और वह नारी उसके थके मांदे वा घबराए मन के लिए विश्राम का स्थान बनेगी।

हाथ पकड़ने से वर अपने ऊपर यह भार लेता है, कि इस की रक्षा करना इसका भरण पोषण, इस के सुखों की वृद्धि करना सब मेरा काम है।

हाथ पकड़ाने और पकड़ने का प्रयोजन यह है, कि दोनों गृहपति बन कर एकप्राण होकर गृहाश्रम में प्रवेश करें, एक दूसरे के प्रेम में रंगे जाकर सौभाग्य सुख को अनुभव करें, ऐश्वर्य को बढ़ाएं, सुसन्तति का सुख अनुभव करें और परस्पर अनुकूलवृत्ति और मोद प्रमोद से जीवन की लड़ी को लंबी करते हुए पूर्ण आयु का उपभोग करें।

प्र त्वा मुञ्चामि वरुणस्य पाशाद् येन त्वाऽबध्नात सविता सुशेवः। ऋतस्य योनौ सुकृतस्य लोकेऽरिष्टां त्वा सह पत्या दधामि ॥२४॥ (ऋग् १० । ८५)

प्रेतो मुञ्चामि नामुतः सुबद्धा ममुतस्करम्। यथेयमिन्द्र मीढ्वः सुपुत्रा सुभगाऽसति ॥२५॥

(हे वधु) तुझे वरुण की उस फांस से छुड़ाता हूं, जिस के साथ बहुत सुख देने वाले सविता ने तुझे बांधा हुआ था और अब प्रसन्नहृदया तुझ को पति के साथ पुण्य के लोक मे धर्म की वेदि पर स्थापन करता हूं। २४। मैं तुझे इस ओर से छुड़ाता हूं, उस ओर से नहीं, उस ओर तुझे सुबद्ध करता हूं, जिस से हे दानी इन्द्र यह स्त्री सौभाग्यवती और सुपुत्रवती हो।

वरुण के बन्धन से अभिप्राय उस बन्धन से है, जो उस ने अब तक कन्याओं की धर्ममर्यादा का पालन किया है। और

उस नैसर्गिक प्रेम से है, जो उस का अभी तक पितृकुल में ही है। "पुण्य के लोक में धर्म की वेदि पर" अर्थात् गृहाश्रम में गृहस्थ के कर्तव्यों पर 'गृहाश्रम को पुण्य लोक कहने से जहां एक ओर इस आश्रम की श्रेष्ठता दिखलाई है, वहां दूसरी ओर दम्पती के लिए इस आश्रम को अपने जीवन से पुण्यलोक बना देने की प्रेरना भी की है॥

संस्कारविधि के अनुसार विवाह में वर वधु की वेणी को खोलता हुआ ये पूर्वोक्त दो मन्त्र पढ़ता है।

इह प्रियं प्रजया ते समृध्यतामस्मिन् गृहे गार्हपत्याय जागृहि । एना पत्या तन्वं संसृजस्वाधा जिव्री विदथ मावदाथः (ऋ० १० । ८५ । २७)

(वधू के पति गृह में प्रवेश करते समय यह मन्त्र पढा जाता है) यहां (इस घर में) तेरे लिए और तेरी सन्तति के लिए प्रिय (खुशियां) बढ़ता रहे, इस घर में घर की स्वामिनी होकर काम करने के लिए सदा सावधान रह, इस पति के साथ अपने आप को एक कर दे और तब तुम दोनों मिल कर बुढ़ापे तक इस घर पर शासन करो॥

आर्यजीवन यह है, कि विवाह बन्धन से सुबद्ध पति और पत्नी दोनों आपस में ऐसे अभिन्नहृदय हों, मानों दोनों एक हैं। इसी लिए पत्नी अर्धांगिनी कहलाती है। अत एव दोनों का घर पर समान अधिकार होता है। आर्यधर्म में पत्नी पुरुष की दासी नहीं, किन्तु अर्धांगिनी है, घर की स्वामिनी है। इसी लिए तो पति पत्नी को दम्पती कहते हैं। दम वेद में घर का नाम है। दम्पती=घर के दो स्वामी। जैसे पति स्वामी वैसे

पत्नी स्वामिनी है। इसी लिए विवाह के अनन्तर वधू के प्रयाण के समय जो मन्त्र पढ़ा जाता है, इस में आया है-**गृहान् गच्छ गृहपत्नी यथासो** (ऋग्० १०। ८५। २६) (पति के) घरों की ओर चल, जिस से तू घर की स्वामिनी बने।

नीचे हम चार मन्त्र देते हैं, जिन में पति के घर में पत्नी का स्वागत किया गया है। वधू के पतिगृह में प्रवेश करने पर इन मन्त्रों से होम किया जाता है-

आ नः प्रजां जनयतु प्रजापतिराजरसाय समनक्त्वर्यमा। अदुर्मङ्गलीः पतिलोकमाविश शन्नोभव द्विपदे शं चतुष्पदे ॥४३॥ (ऋग्वेद १०। ८५)

प्रजापति हमें सन्तान की वृद्धि देवे, अर्यमा हमें बुढ़ापे तक पहुंचने के लिए शोभायमान करे, सुमंगली होकर पतिलोक में प्रवेश कर अर्थात (तेरा आगमन इस घर में सुमंगल हो) कल्याणलाने वाली हो हमारे मनुष्यों के लिए और कल्याण लाने वाली हो पशुओं के लिए।

अघोरचक्षुर पतिघ्न्येधि शिवा पशुभ्यः सुमनाः सुवर्चाः। वीरसूर्देवकामा स्योना शन्नो भव द्विपदे शं-चतुष्पदे ॥४४॥

(हे वधु) तेरी दृष्टि कभी क्रूर न हो, पति के जीवन को सदा बढ़ाने वाली हो, पशुओं के लिए कल्याण कारिणी हो, विशाल हृदय वाली, तेज और कान्ति से पूर्ण हो, वीरजननी हो, परमेश्वर की भक्त हो, सुखदायिनी हो, कल्याण लाने वाली हो,

हमारे मनुष्यों के लिए और कल्याण लानेवाली हो पशुओं के लिए।

इमां त्वमिन्द्र मीढ्वः सुपुत्रां सुभगां कृणु।
दशास्यां पुत्रानाधेहि पतिमेकादशं कृधि ॥४५॥

हे दानी इन्द्र तू इस नारी को सौभाग्यवती और सुपत्रवती बना, इस में से दस पुत्रों को दे और पति को ग्यारहवां बना।

सम्राज्ञी श्वशुरे भव सम्राज्ञी श्वश्र्वां भव।
ननान्दरि सम्राज्ञी भव सम्राज्ञी अधिदेवृषु ॥४६॥

(हे वधु) महारानी हो ससुर के पास, महारानी हो सास के पास, महारानी हो ननद के पास, और महारानी हो देवरों के पास।

'महारानी हो' आर्य घरों में पुत्रवधू का यह आदर होता था, कि जब आए, तो घर के राज्य की सारी देख भाल और समृद्धि का भार सारा पुत्र और पुत्रवधू को सौंप दिया जाता था। यह भरोसा पुत्र और पुत्रवधू पर किया जाता था। हां यह निःसन्देह है, कि इतना बडा भार योग्यता के साथ संभालने की योग्यता उन में पहले ही उत्पन्न करदी जाती थी। वे इस भार को अपने कन्धों पर उठा लेते थे, और माता पिता को निश्चिन्त कर देते थे। हां उन के आज्ञाकारी बने रहते थे, और उन को अपने देवता जानते हुए सच्ची पितृभक्ति से सुप्रसन्न रखते थे, और उन के आशीर्वाद ग्रहण कर के प्रसन्न होते थे। माता पिता भी उन को योग्यता से सारे काम करते देख २ प्रसन्न होते थे। 'महारानी हो' यह वचन इसी तात्पर्य का सूचक है। इस का प्रभाव उन की सन्तति पर बडा ही उत्तम पडता

था। जो सीमन्तिनी घर में महारानी बन कर बैठी है, उसी की सन्तति स्वतन्त्रताप्रिय, विशालहृदय और धर्मशील होगी। आजकल जो पुत्रवधू पर विश्वास न रख कर कुंजियां सास लटकाए फिरती है, उस से निरा नौकरों की नाईं काम लेती है, और पुत्रवधू भी कुछ अयोग्य ही होती है, इस का पहला परिणाम तो घर में कलह मिथ्यावाद और चोरी का प्रवेश होता है, अगला परिणाम, यही संस्कार सन्तति पर पड़ते हैं, और यह स्पष्ट है, कि जो सीमन्तिनी घर में दबी सी रहती है, उसकी सन्तति उत्साह और साहस से पूर्ण और स्वतन्त्रता प्रिय कैसे हो सकती है ?

महारानी बन कर सब के सुखों की वृद्धि में दत्तचित्त रहे, न कि उन पर शासन करने लगे, इस लिए उस के कर्तव्य बतलाते हैं:—

स्योना भव श्वशुरेभ्यः स्योना पत्ये गृहेभ्यः ।
स्योनाऽस्यैसर्वस्यै विशे स्योना पुष्टायैषां भव ॥
(अथर्व० १० । २ । २७)

सास ससुर के लिए सुख देने वाली हो, पति के लिए सुख देने वाली हो, घर के सब लोगों के लिए सुख देने वाली हो, इन सब मनुष्यों (छोटों बड़ों) के लिए सुख देने वाली बनकर इन सब की पुष्टि के लिए तत्पर रह।

आशासाना सौमनसं प्रजां सौभाग्यं रयिम् ।
पत्युरनुव्रता भूत्वा संनह्यस्वामृताय कम् ॥४२॥

सौमनस्य, सन्तान, सौभाग्य और ऐश्वर्य की कामना करती हुई, पति के अनुकूल कर्मों वाली होकर अमर जीवन के लिए सन्नद्ध हो।

ब्रह्मापरं युज्यतां ब्रह्म पूर्वं ब्रह्मान्ततो ब्रह्म मध्यतो ब्रह्म सर्वतः । अनाव्याधां देवपुरां प्रपद्य शिवा स्योना पतिलोके विराज ॥६४॥

वेद तेरे आगे हो, वेद पीछे हो, वेद (तेरे कामों की) समाप्ति में हो, वेद मध्य में हो, वेद सारी बातों में हो (सारा आचरण, वेदानुकूल हो), जहां कोई आधि व्याधि की बाधा नहीं ऐसी देवपुरी में प्राप्त होकर, कल्याण लाने वाली और सुख देने वाली होकर पतिलोक में महारानी बनकर चमक (विराज)।

विवाह में सम्मिलित हुए वृद्ध और पूज्य नरनारियें दम्पती को ये आशीर्वाद दें :—

इहैव स्तं मा वियौष्टं विश्वमायुर्व्यश्नुतम् ।
क्रीडन्तौ पुत्रैर्नप्तृभिर्मोदमानौ स्वे गृहे ॥

(ऋग० १० । ८५ । ४२)

यहां ही रहो (सदा इकट्ठे मिले रहो) मत वियुक्त होवो, अपने घर में पुत्र पोतों के साथ खेलते हुए आनन्द मनाते हुए सारी आयु भोगो (इस से यह भी बोधन किया है, कि ऐसे योग्य जोड़े को ही गृहाश्रम का भार उठाना चाहिये, जो इस गृहाश्रम में अपने और अपने परिवार के जीवन को क्रीडावत् आनन्दमय बनाए रखसके)।

इहेमाविन्द्र संनुद चक्रवाकेव दम्पती ।
प्रजयैनौ स्वस्तकौ विश्वमायुर्व्यश्नुतम् ॥

(अथर्व० १४ । २ । ६४)

हे इन्द्र इस दम्पती को चकवी चकवे की नाईं (प्रेम के)

पूरे रंग में भेर, सन्तति समेत यह जोडा उत्तम घरों में रहे, और पूर्ण आयु को भोगे।

स्योनाद्योनेरधिबुध्यमानौ हसामुदौ सहसा मोदमानौ। सुगू सुपुत्रौ सुगृहौ तराथो जीवावुषसो विभातीः॥ (अथर्व० १४।२।४३)

तुम दोनों सुखमय स्थान से जागते हुए खिले हुए चेहरों वाले, पूरा उपभोग करते हुए, उत्तम पशु, उत्तम पुत्र और उत्तम घर रखते हुए, उच्च जीवन दिखलाते हुए चमकती हुई उषाओं को पार करते रहो * (अर्थात् दीर्घ आयु भोगो)।

धर्मशास्त्र के प्रमाण—घर में स्त्रियों के आदरमान और पतिपत्नी के परस्पर प्रेम की जो आज्ञा भगवान् वेद देता है, उसी की भगवान् मनु इस प्रकार व्याख्या करते हैं।

पितृभिर्भ्रातृभिश्चैताः पतिभिर्देवरै स्तथा।
पूज्या भूषयितव्याश्च बहु कल्याण मीप्सुभिः॥ ५५॥
यत्रनार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः।
यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते सर्वास्तत्राफलाः क्रियाः॥ ५६॥
शोचन्ति जामयो यत्र विनश्यत्याशु तत् कुलम्।
न शोचन्ति तु यत्रैता वर्धते तद्धि सर्वदा॥ ५७॥
जामयो यानि गेहानि शपन्त्यप्रति पूजिताः।
तानि कृत्याहतानीव विनश्यन्ति समन्ततः॥ ५८॥
तस्मादेताः सदा पूज्या भूषणाच्छादनाशनैः।
भूतिकामै नेरैर्नित्यं सत्कारेषूत्सवेषु च॥५९॥ (मनु० अ० ३)

---

* 'सुखमय स्थान से जागते हुए' और चमकती हुई उषाओं को पार करते रहो, कहने से गृहाश्रमियों के लिए उषा के समय उठने की आज्ञा दीगई है॥

पिता भाई पति और देवर जो (अपने कुल का) बहुत कल्याण चाहते हैं, उन्हें चाहिये, कि स्त्रियों का (कन्या बहिन, स्त्री और भौजाई आदि घर की सब स्त्रियों का) मान करें, और उन्हें भूषित करें ॥ ५५ ॥ जहां (जिस कुल में) स्त्रियों का मान होता है, वहां देवता आनन्द मनताते हैं (वह घर स्वर्गधाम बन जाता है, उस में रहने वाले देवसुख का उपभोग करते हैं, और उन घरों में परमात्मा ऐसी उत्तम सन्तान भेजते हैं, जो दैवी संपदा से युक्त होती है)। और जहां इन का मान नहीं होता है, वहां सब कर्म निष्फल जाते हैं ॥ ५६ ॥ जहां स्त्रियें (अपमान से वा पतियों के व्यभिचारादि दोष से) शोकातुर रहती हैं, वह कुल शीघ्र नष्ट होजाता है. और जहां ये (आदरमान और पतियों के उत्तम आचरणों से) प्रसन्नवदन रहती हैं, वह कुल सदा बढ़ता रहता है ॥ ५७ ॥ अनादर तिरस्कार पाती हुई भली स्त्रियें जिन घरों को शाप देती हैं वे कृत्या (इन्द्रजाल की क्रिया) से नष्ट हुओं की तरह सर्वथा नष्ट होजाते हैं ॥ ५८ ॥ इस लिए (अपने वंश की) वृद्धि चाहने वाले मनुष्यों को योग्य है, कि पर्वों और त्योहारों पर वस्त्र भूषण और भोज्य वस्तुओं से सदा इनका मान करें ॥ ५९ ॥

सन्तुष्टो भार्यया भर्ता भर्त्रा भार्या तथैवच ।
यस्मिन्नेव कुले नित्यं कल्याणं तत्र वै ध्रुवम् ॥ ६० ॥
यदिहि स्त्री न रोचेत पुमांसं न प्रमोदयेत् ।
अप्रमोदात् पुनः पुंसः प्रजनं न प्रवर्तते ॥ ६१ ॥
स्त्रियां तु रोचमानायां सर्वं तद् रोचते कुलम् ।
तस्यां त्वरोचमानायां सर्व मेव न रोचते ॥ ६२ ॥

(मनु अ० ३)

जिस कुल में स्त्री से भर्ता और भर्ता से स्त्री सदा प्रसन्न रहते हैं, उसी कुल में अटल कल्याण नित्य बना रहता है॥ ६१॥ क्योंकि यदि स्त्री प्रसन्न न हो, तो वह पति को प्रहर्षित नहीं कर सकती, और पति के प्रहर्षित न होने से सन्तान नहीं होती है (वा दुष्ट दुर्बल सन्तान होती हैं)॥ ६२॥ स्त्री के प्रसन्न-वदन रहने पर सारा कुल प्रसन्नवदन रहता है, और उसके अप्रसन्न रहने पर कोई भी प्रसन्नवदन नहीं रहता है।

स्त्री पर पति के गुणों का प्रभाव।

याहग्गुणेन भर्त्रा स्त्री संयुज्येत यथाविधि।
ताहग्गुणा सा भवति समुद्रेणेव निम्नगा॥ २२॥
अक्षमाला वसिष्ठेन संयुक्ताऽधमयोनिजा।
शारङ्गी मन्दपालेन जगामाभ्यर्हणीयताम्॥ २३॥
एताश्चान्याश्च लोकेऽस्मिन्नपकृष्टप्रसूतयः।
उत्कर्षं योषितः प्राप्ताः स्वैः स्वैर्भर्तृगुणैः शुभैः॥ २४॥

(मनु० अ० ९)

जैसे गुणों वाले भर्ता से स्त्री विवाह सम्बन्ध से सम्बद्ध होती है, वैसे गुणों वाली वह होजाती है, जैसे नदी समुद्र से (संयुक्त होकर समुद्र के गुणों वाली होजाती है। कविता में समुद्र नदियों का पति कहा जाता है)॥ २२॥ नीच जाति में उत्पन्न हुई अक्षमाला वसिष्ठ से सम्बद्ध होकर और शारङ्गी मन्दपाल से सम्बद्ध होकर पूज्यता को प्राप्त हुई हैं॥ २३॥ ये तथा और भी नीच जन्म वाली बहुत सी स्त्रियें अपने २ पतियों के शुभ गुणों से उत्तमता को प्राप्त हुई हैं ("इसलिए यदि पुरुष श्रेष्ठ हों, तो स्त्रियां श्रेष्ठ, और दुष्ट हों तो दुष्ट हो

जाती हैं, इससे प्रथम मनुष्यों को श्रेष्ठ होके अपनी स्त्रियों को उत्तम करना चाहिए " संस्कारविधि) ॥ २४ ॥

स्त्री का घर में स्थान और उसका कर्तव्य ।

प्रजनार्थं महाभागाः पूजार्हा गृह दीप्तयः ।
स्त्रियः श्रियश्च गेहेषु न विशेषोऽस्ति कश्चन (मनु ९।२६)
उत्पादनमपत्यस्य जातस्य परिरक्षणम् ।
प्रत्यहं लोकयात्रायाः प्रत्यक्षं स्त्री निबन्धनम् ॥ २७ ॥
अपत्यं धर्मकार्याणि शुश्रूषा रतिरुत्तमा ।
दाराधीनस्तथा स्वर्गः पितृणामात्मनश्चह ॥ २८ ॥

(हे गृहस्थो ! स्त्रियें) सन्तानोत्पत्ति के लिए बड़ी भाग्यवतियें हैं, घर की शोभा हैं, (अतएव तुम से आदर सत्कार पाने योग्य हैं), घरों में स्त्रियें मानों साक्षात् श्री हैं, स्त्रियें और श्री (लक्ष्मी शोभा) में कोई भेद नहीं है ॥ २६ ॥ सन्तान का उत्पादन, उत्पन्न हुए का पालन पोषण, तथा प्रतिदिन की लोकयात्रा (भोजन वस्त्रादि के संपादन, और आए गए की सेवा आदि) का स्त्री ही साक्षात् कारण है ॥ २७ ॥ सन्तान (की उत्पत्ति और रक्षा), धर्म के कार्य (अग्निहोत्रादि) सेवा, उच्च अवस्था का प्रेम, तथा अपना और पितरों का जितना सुख है, ये सब स्त्री के अधीन हैं ॥ २८ ॥

अर्थस्य संग्रहे चैनां व्यये चैव नियोजयेत् ।
शौचे धर्मेऽन्नपक्त्यां च पारिणाह्यस्य चेक्षणे (मनु ९।११)
सदा प्रहृष्टया भाव्यं गृहकार्येषु दक्षया ।
सुसंस्कृतोपस्करया व्यये चामुक्तहस्तया ॥ (मनु ५।१५०)

धन के संभालने और व्यय के काम में, (घर वस्त्र आदि और बच्चों की) शुद्धि में, धर्म के कार्यों (अग्निहोत्रादि) में,

रसोई के काम में, और घर के साधनोपसाधनों की देख भाल में इसको लगाए ॥ ११ ॥ और स्त्री को योग्य है, सदा प्रसन्न रहे, और घर के कामों में दक्ष (फुर्तीली और निपुण) हो, घर के सारे साधनोपसाधन स्वच्छ और सजे हुए रक्खे, और खर्चने में हाथ खुला न रक्खे (मर्यादा में खर्च करे) ॥१५०॥

गृहाश्रम की प्रशंसा और अधिकारी।

यथा वायुं समाश्रित्य वर्तन्ते सर्वजन्तवः ।
तथा गृहस्थमाश्रित्य वर्तन्ते सर्व आश्रमाः ॥ ७७ ॥
यस्मात् त्रयो प्याश्रमिणो ज्ञानेनान्नेन चान्वहम् ।
गृहस्थेनैव धार्यन्ते तस्माज्ज्येष्ठाश्रमो गृही ॥ ७८ ॥
स संधार्यः प्रयत्नेन स्वर्गमक्षयमिच्छता ।
सुखं चेहेच्छता नित्यं योऽधार्यो दुर्बलेन्द्रियैः ॥ ७९ ॥
(मनु० अ० ३)

जैसे सब प्राणधारी वायु का आश्रय लेकर रहते हैं, वैसे सब आश्रम गृहस्थ का आश्रय लेकर रहते हैं ॥ ७७ ॥ जिस कारण तीनों आश्रमी ज्ञान और दान (वेद के पढ़ाने और अन्न देने) से गृहस्थ द्वारा ही धारण किये जाते हैं, इस कारण गृहाश्रम एक बड़ा श्रेष्ठ आश्रम है ॥ ७८ ॥ सो वह पुरुष, जो इस लोक में नित्य का सुख चाहता है, और (परलोक में) अक्षय स्वर्ग (मोक्षसुख) चाहता है, उसको यह गृहस्थाश्रम बड़ी सावधानता के साथ धारण करना चाहिए, जो दुर्बल शक्ति वालों से धारण नहीं किया जा सकता है ॥ ७९ ॥

सर्वेषामपि चैतेषां वेदस्मृतिविधानतः ।
गृहस्थ उच्यते श्रेष्ठः स त्रीनेतान् बिभर्ति हि ॥८९॥

यथा नदीनदाः सर्वे सागरे यान्ति संस्थितिम् ।
तथैवाश्रमिणः सर्वे गृहस्थे यान्ति संस्थितिम् ॥९०॥
(मनु० अ० ६)

और इन सब (आश्रमों) में से वेद और स्मृति की मर्यादानुसार गृहस्थ श्रेष्ठ कहलाता है, क्योंकि वह इन तीनों (आश्रमों) का भरण पोषण करता है ॥ ८९ ॥ जैसे सब नद नदी समुद्र में विश्राम पाते हैं, वैसे ही सब आश्रमी गृहस्थ में विश्राम पाते हैं ॥ ९० ॥

गृहाश्रमियों के धर्म} परमात्मा ने प्राणधारियों में जो नर नारी का भेद उत्पन्न किया है, इससे उसका अभिप्राय सन्तति द्वारा लोक में अपनी प्रजा को स्थिर रखने का है, अतएव इस स्वाभाविक धर्म का सब प्राणधारी पालन करते हुए सन्तान को उत्पन्न करते और उसकी रक्षा करते हैं। यह स्वाभाविक रुचि यदि प्राणधारियों में न होती, तो उनकी वंशपरम्परा स्थिर न रहती। ऐसे ही मनुष्य भी अपनी वंशपरम्परा को स्थिर रखने के लिए इसी नियम का पालन करता है। किन्तु इस भेद को जान लेना आवश्यक है, कि पशु पक्षी आदि जो भोगयोनियां हैं, उनका काम सन्तान के उत्पादन और पालन से बढ़कर कुछ नहीं। वे अपनी सन्तान को स्वयं चर फिर कर पेट भरने योग्य और अपनी रक्षा करने योग्य बना कर कृतकृत्य हो जाते हैं, क्योंकि इतना ही काम उनकी सन्तति ने इस लोक में अपने लिए करना है। पर मानवजीवन का आदर्श इतना ऊंचा है, कि अपनी कमाई खाना, और अपनी रक्षा आप करना यह काम उसका एक छोटा सा अंग है। इस लिए मनुष्य अपनी सन्तति को केवल पेट भरने और अपनी रक्षा करने

योग्य बनाकर ही कृतकृत्य नहीं होसकता। जब तक कि वह अपनी सन्तान को सुशिक्षित और सुचरित्र न बना दे। दूसरे प्राणधारियों को सन्तान के सम्बन्ध में जो काम परमात्मा ने सौंपा है, उसको वे पूरा निभाते हैं देखो प्रत्येक प्राणधारी अपने समय को पहचानता है। और पूरे मोह के साथ सन्तान की रक्षा करता है। और रक्षा उसी की रक्षा के लिए करता है, अपने किसी स्वार्थ के लिए नहीं, अतएव जब सन्तान अपनी रक्षा के योग्य बन जाती है, तो उसे स्वतन्त्र छोड़ देता है। पर मनुष्य को सन्तान के सम्बन्ध में जो काम परमात्मा ने सौंपा है, बहुतेरे उसकी ओर कुछ भी ध्यान नहीं देते, वा बहुत थोड़ा ध्यान देते हैं। जो मनुष्य अपने पशुओं अपने खाने के फलों और अनाजों के वंश के सुधार की चेष्टा करता है, वह अपने वंश के सुधार की ओर ध्यान न दे, यह कितना बड़ा प्रमाद है। अतएव प्रत्येक मनुष्य का कर्तव्य है, कि सन्तान का उत्पादन, पालन, शिक्षण, और चरित्रगठन ऐसी विधि से करे, कि उसकी सन्तान हृष्ट पुष्ट बलिष्ठ दृढ़िष्ठ नीरोग दीर्घायु सुशिक्षित और सुचरित्र हों। इस बात में मनुष्य को किस प्रकार सफलता प्राप्त हो सकती है, इसके लिए जो मार्ग वेद में बतलाया है, जिसके आधार पर पूर्व आर्यों ने संस्कार नियत किये हैं, वह यह हैं—

सं पितरा वृत्विये सृजेथां माता च पिता च रेतसो भवाथः। मर्य इव योषामधिरोहयैनां प्रजां कृण्वाथामिह पुष्यतं रयिम् (अथर्व१४।२।३७)

हे माता पितरौ! तुम दोनों अपने योग्य समय पर पके

हुए दो तत्त्वों (रजवीर्य) को मिलाओ, तुम दोनों बीज के माता और पिता बनो (अमोघवीर्य बनो)। हे युवा पुरुष एक नर की तरह तू इस युवति से सम्बद्ध हो, तुम दोनों मिलकर सन्तान को उत्पन्न करो, और इस लोक में ऐश्वर्य को पुष्ट करो।

ऋत्विय वह वस्तु है, जो अपने ठीक समय पर पहुंचकर पक गई है। रजवीर्य को ऋत्विय कहने से यह बोधन किया है; कि सन्तानोत्पादन का समय वही है, जब स्त्री का रज और पुरुष का वीर्य अपने ठीक समय पर पहुंचकर पक चुके हों, उससे पूर्व नहीं। किसान भी बोने के लिये जब वही बीज ढूंढता है, जो ठीक समय पर पक कर तय्यार हुए हैं, तो इस सर्वोत्तम सृष्टि के लिए इस पर ध्यान देना कितना आवश्यक है। जो ईश्वर की इस आज्ञा को तोड़ते हैं, लोक में उन पर ईश्वर का दण्ड इस रूप में गिरता है, कि उनके सन्तान नहीं होती, वा घट होती है, और जो होती है, वह भी दुर्बल और अल्पायु होती है।

अथवा 'संपितरा वृत्विये सृजेथाम्' हे माता पितरौ तुम दोनों ऋतुकाल (सन्तानोत्पादन के योग्य समय) पर मिलो ॥ यही उपदेश इस उपमा से भी दिया है "जायेव पत्य उशती सुवासाः' (ऋग् १० । ७१ । ४) ऋतुमती स्त्री प्रेम से भरी हुई जैसे अपने पति के लिए (अपना शरीर खोलती है, वैसे वेदवाणी ज्ञानी के लिए अपना शरीर खोलती है) ॥

'बीज के माता पिता बनो' रेतस्=बीज उसको कहते हैं जो अपने अन्दर उत्पन्न होने और बढ़कर पूर्णता तक पहुंचने की शक्ति रखता है। सो 'बीज के माता पिता बनो' का यह अभिप्राय है, कि अमोघवीर्य बनो। तुम्हारा समागम व्यर्थ न

जाए। जो नर नारी इस मन्त्र में कही पहिली आज्ञा का पालन करते हैं, वे अमोघवीर्य होते हैं।

'सन्तान को उत्पन्न करो, और ऐश्वर्य को पुष्ट करो' अर्थात् पक्का करो और बढ़ाओ। जो सन्तान तो उत्पन्न करता है, पर उनके पालन पोषण और शिक्षण का योग्य प्रबन्ध करने में असमर्थ है, वह इस ज्येष्ठाश्रम के योग्य नहीं।

आत्मन्वत्युर्वरा नारीयमागन् तस्यां नरो वपत बीजमस्याम्। सा वः प्रजां जनयद् वक्षणाभ्यो बिभ्रती दुग्ध मृषभस्य रेतः (अथर्व१४।२।१४)

यह नारी उच्च भावों से युक्त हुई,*उर्वरा भूमि (फलने फूलने वाले क्षेत्र) के रूप में तेरे निकट आई है, हे नर इसमें बीज बो, वह उस दोहे हुए सार को जो तुझ शक्तिमान् का बीज है धारण करती हुई अपनी कुक्षि से तुम्हारे लिए सन्तान को उत्पन्न करेगी।

'उच्च भावों से युक्त हुई' माता का अर्थ है बनाने वाली पुत्र वैसा ही बनता है, जैसा माता उसको बनाती है। अर्थात् माता के हृदय में जैसे भाव प्रबल होते हैं, वैसी ही सन्तान बनती है, विशेषतः उस अवस्था में, जब कि वह सन्तान को अपनी कुक्षि में धारण करती है॥

उर्वरा, उत्तम अनाज उत्पन्न करने के योग्य भूमि, इस रूपक से यह बोधन किया है, कि स्वस्थ शरीर वाली, उच्च

* आत्मन्वती = आत्मावाली जो अपने अन्दर एक आत्मा रखती है। अर्थात् उच्च भावों से युक्त है।

भावों वाली और उच्च संस्कारों से संस्कृता होकर ही नारी को तेज ग्रहण करना चाहिये ॥

तेज से पूर्ण पुरुष को ही तेज का आधान करना चाहिये, इस अभिप्राय से यहां पुरुष को "ऋषभ" कहा है ॥

जब मन में किसी प्रकार की कोई चिन्ता शोक वा क्लेश न हो, किन्तु मन सब प्रकार से प्रहर्ष में हो, अथवा कोई विपद् सामने हो भी, तो उस से पार होने के लिए वीरता के भाव मन में आते हों, न कि दीनता के, तभी तेज के ग्रहण करने में नारी को प्रवृत्त होना चाहिये, इस अभिप्राय से कहा है—

आरोह तल्पं सुमनस्यमानेह प्रजां जनय पत्ये अस्मै

(अथर्व० १४ । २ । ३१)

सौमनस्य से युक्त हुई तू शय्या पर चढ़, और यह जो तेरा पति है, इस के लिये यहां सन्तान उत्पन्न कर ॥

देवा अग्रे न्यपद्यन्त पत्नीः समस्पृशन्त तन्वस्तनूभिः
सूर्येव नारि विश्वरूपा महित्वा प्रजावती पत्या सम्भवेह

(अथर्व० १४ । २ । ३२)

आदि में देवता पत्नियों की ओर झुके, उन्होंने उनके शरीरों को अपने शरीरों के साथ मिला दिया। (उसी नियम का पालन करती हुई) हे नारि तू सारे रूपों वाली सूर्या (सूर्य की कन्या=सूर्य प्रभा) की न्याईं महत्त्व के साथ प्रजावती बनने के लिए इस पति के साथ यहां एक होजा ॥

यहां देवताओं से अभिप्राय आदि सृष्टि की उन शक्तियों से है, जिससे सृष्टि की उत्पत्ति हुई, अतएव आगे दृष्टान्त सूर्या का दिया है। यहां सूर्या की उपमा देने से और "महत्त्व के

साथ" कहने से फिर उसी धर्म की ओर दृष्टि दिलाई है, कि सन्तानोत्पादन के कर्म को एक बड़े महत्त्व का कर्म जानकर शुद्ध रुचि और प्रवृत्ति के साथ यथाविधि पूर्ण करना चाहिये ॥

आरोह चर्मोपसीदाग्निमेष देवो हन्ति रक्षांसि सर्वा।
इह प्रजां जनय पत्ये अस्मै स ज्यैष्ठ्यो भवत् पुत्रस्त एषः॥

(अथर्व० १४ । २ । २४)

इस मृगान पर आरूढ़ हो अग्नि के निकट बैठ, यह देव (अग्नि) सारे राक्षसों (रोग के बीजों) का नाश करता है, यहां, यह जो तेरा पति है, इस के लिए सन्तान उत्पन्न कर, यह तेरा पुत्र महिमा वाला होगा ॥

यहां अग्नि के पास बैठने और अनन्तर सन्तानोत्पादन की आज्ञा देने से यह विधि बतलाई है, कि पहले हवन करो, फिर गर्भ का आधान करो, इससे तुम्हारी सन्तान महत्त्व वाली होगी॥

इस ईश्वरीय आज्ञा को पूरा करने के लिए आर्य्य जाति में **गर्भाधान** एक स्वतन्त्र संस्कार नियत है, ताकि इस महान् कार्य्य को पुरुष महिमा वाला बनाकर आरम्भ करे, और यथाविधि पूर्ण करे ॥

माता पिता बनने वालों को यह बात जाननी चाहिये, कि गर्भाधान एक पवित्र कर्म है,जिसका फल एक नए मानुष जीवन का कर्मभूमि में प्रवेश कराना है । इस लिए पहले इस कर्म का हरएक अङ्ग में यथार्थ ज्ञान उपलब्ध करना चाहिये, और तदनुसार आधान करना चाहिये, क्योंकि इस में भूल भारी भूल है । अतएव आधान के सम्बन्ध में शास्त्र की जो आज्ञाएं हैं,हरएक युवा पुरुष और युवति स्त्री का धर्म है,कि उनको जाने।

देखो जब तुम्हें अपने पुत्र का चित्र (फोटो) खिचवाने की आवश्यकता होगी, तो तुम एक ऐसे कुशल चित्रकार के पास पहुंचोगे, जो तुम्हें बहुत ही बढ़िया चित्र बनाकर दे। सो जिसके प्रतिबिम्ब का तुम्हारे हृदय में इतना समादर है, उस बिम्ब को जब तुम स्वयं बनाने लगे हो, तब क्यों असावधानी करते हो। तुम न केवल उसके बाह्य बिम्ब का समारम्भ करने लगे हो, किन्तु उस की अन्तरीय प्रकृति की भी नींव रखने लगे हो, इस लिए विश्वास रक्खो, कि श्रेष्ठ सन्तान के उत्पन्न करने से बढ़कर गृहस्थ का कोई उच्च धर्म नहीं है। और इसके लिए तुम्हें शास्त्र की जो मर्यादाएं पूर्व दिखलाई हैं, और जो आगे दिखलाते हैं, उन सब का सावधानता से पालन करना चाहिये। सन्तान की कामना वाले दम्पती को परमात्मा का यह आशीर्वचन है—

अपश्यं त्वा मनसा चेकितानं तपसो जातं तपसोविभूतम्
इह प्रजामिह रयिं रराणः प्रजायस्व प्रजया पुत्रकाम ॥
(ऋग्वेद १० । १८३ । १)

मैंने तुझे अपने मन में (पुत्र का) ध्यान धरे हुए देख लिया है, तू जो कि तप से एक नया जीवन और एक नई शक्ति पाए हुए है। हे पुत्रकाम ! इस लोक में अब प्रजा और ऐश्वर्य लाता हुआ तू प्रजा से बढ़ता रह॥

"प्रजा (पुत्र पुत्रियों) से बढ़ता रह" यह परमात्मा का आशीर्वाद उस को मिलता है। (१) जो ब्रह्मचर्य धारण करके एक नया जीवन पाचुका है। (२) तथा सादे और परिश्रमी जीवन से अपने अन्दर शक्ति धारण किये हुए है।

निर्धनों के सन्तान इसलिए अधिक होती है, कि वे परिश्रमी होते हैं, पर वे सन्तान की रक्षा पूरी नहीं कर सकते, क्योंकि निर्धन होते हैं, तो भी धनवानों से बाधे में ही रहते हैं। यदि धनवान् होकर तपस्वी जीवन धारण करे, तो उसको यह आशीर्वाद पूरा २ फल देगा॥

"तपसो जातं तपसो विभूतं" का यह भी तात्पर्य्य है, कि सन्तानोत्पादन के कर्म से कई दिन पूर्व पुरुष तय्यारी करके अपने अन्दर नया जीवन और नई शक्ति धारण करे, और फिर आधान करे। अतएव कहा है—

पुरुषे ह वा अयमादितो गर्भो भवति यदेतद् रेतः, तदे तद् सर्वेभ्योऽङ्गेभ्यस्तेजः सम्भूतमात्मन्येवात्मानं बिभर्ति। तद् यदा स्त्रियां सिञ्चत्यथैनज्जनयति, तदस्य प्रथमं जन्म। (ऐत० उ० २।१)

निःसन्देह पुरुष में यह पहले गर्भ (के तौर पर) होता है, जो यह वीर्य (कहलाता) है, यह सारे अंगों से इकट्ठा होने वाला एक तेज है, जिसको यह अपना प्रतिबिम्ब बनाकर अपने अन्दर धारण करता है, उसको जब स्त्री में सेचन करता है, तब वह इस को एक जन्म देता है, यह इसका पहला जन्म है।

जैसे माता के उच्च भावों का गर्भ पर प्रभाव पड़ता है, वैसे ही पिता के उच्च भावों का वीर्य पर प्रभाव पड़ता है। पुरुष जैसी शक्ति और भावों वाला उन दिनों में होगा, वैसा ही उसका प्रतिबिम्ब उसके वीर्य में उतरेगा। (३) "मन में ध्यान धरे हुए" अर्थात् उसका मन पत्नी के प्रेम से भरा हो, और एक उच्च आत्मा के प्रवेश में लगा हो।

अपश्यं त्वा मनसा दीध्यानां स्वायां तनू ऋत्व्ये

नाधमानाम् । उपमामुच्चा युवतिर्भूयाः प्रजायस्व प्रजया पुत्रकामे ॥ २ ॥

मैं ने तुझे देख लिया है, कि तू मन में ध्यान धारे हुए है, और ऋतु काल में अपने शरीर में फल चाहती है । मेरे समीप तू उच्च भावों वाली युवति हो, हे पुत्रकामे ! सन्तति से बढ़ती रह।

वृक्ष अपने समय पर अपनी ऋतु (रुत) में फलता है, ठीक ऐसे ही स्त्री भी अपने समय पर अपनी ऋतु में ही फलवती होती है । अतएव (१) वह जब फलवती होने की पूरी अवस्था पर पहुंच जाय, तब ऋतु काल में (२) मन में एक उच्च आत्मा को अपनी कुक्षि में धारने का ध्यान धारे हुए (३) उच्च भावों से युक्त हुई परमात्मा की आराधना करती है । ऐसे युवति के लिए परमात्मा का यह आशीर्वाद है—"प्रजायस्व प्रजया पुत्रकामे" ।

अहं गर्भमदधामोषधीष्वहं विश्वेषु भुवनेष्वन्तः ।
अहं प्रजा अजनयं पृथिव्यामहं जनिभ्यो अपरीषु पुत्रान्

सारे पोदों में, और सारे सत्त्वों में मैं उत्पत्ति का बीज डालता हूं, मैं ने पृथिवी पर सारी प्रजाएं उत्पन्न की हैं, मैं ने स्त्रियों से पुत्र उत्पन्न किये हैं, और आगामिनी वेलाओं में करता रहूंगा ॥ ३ ॥

नर में बीज की उत्पत्ति, उस में जीवनाधार जीव का प्रवेश, अङ्ग प्रत्यङ्ग की उत्पत्ति और वृद्धि, यह सब ईश्वर के अधीन है, इसलिए उस की आज्ञा पर चलो, और भरोसा रक्खो, कि तुम फलवान् होगे ॥

ऋतुकाल के विषय में भगवान् मनु लिखते हैं—

ऋतुकालाभिगामी स्यात् स्वदारनिरतः सदा ।
पर्ववर्जं व्रजेच्चैनां तद्व्रतो रतिकाम्यया ॥ (मनु० ३।४५)
ऋतुः स्वाभाविकः स्त्रीणां रात्रयः षोडश स्मृताः ।
चतुर्भिरितरैः सार्धमहोभिः सद्विगर्हितैः ॥ ४६ ॥
तासामाद्याश्चतस्रस्तु निन्दितैकादशी च या ।
त्रयोदशी च शेषास्तु प्रशस्ता दश रात्रयः ॥ ४७ ॥
युग्मासु पुत्रा जायन्ते स्त्रियोऽयुग्मासु रात्रिषु ।
तस्माद् युग्मासु पुत्रार्थी संविशेदार्तवे स्त्रियम् ॥४८॥
पुमान् पुंसोऽधिके शुक्रे स्त्री भवत्यधिके स्त्रियाः ।
समे पुमान् पुंस्त्रियौ वा क्षीणेऽल्पे च विपर्ययः ॥ ४९ ॥
निन्द्यास्वष्टासु चान्यासु स्त्रियो रात्रिषु वर्जयन् ।
ब्रह्मचार्येव भवति यत्र तत्राश्रमे वसन् ॥ ५० ॥

पुरुष ऋतुकाल में स्त्री के पास जाए, और सदा अपनी स्त्री का ही प्रेमी हो, पर्व दिनों (अमावस्या, पूर्णमासी, अष्टमी चतुर्दशी) को छोड़कर उसके पास जाए, और रति की कामना से स्त्रीव्रत रहे (=परस्त्री से कभी रति न करे) ॥ ४५ ॥

(पहले) चार दिन जो विद्वानों से निन्दित किये गए हैं, उनके समेत सोलह रात्रियें, स्त्रियों का स्वाभाविक ऋतु-काल माना गया है ॥ ४६ ॥ इन (सोलह) में से पहली चार तथा ग्यारहवीं और तेरहवीं, ये रातें निन्दित हैं, शेष दस रातें उत्तम हैं ॥ ४७ ॥ इन दसों में से जो युग्म (जोड़े) रात्रियें हैं, उन में (जाने से) पुत्र उत्पन्न होते हैं, और जो अयुग्म हैं, उन में कन्याएं होती हैं, इस लिए जो पुत्रार्थी है, वह ऋतु समय पर युग्म रात्रियों में स्त्री के पास जाए ॥ ४८ ॥ पुरुष का बीज अधिक हो, तो पुरुष उत्पन्न होता है,

स्त्री का अधिक हो, तो स्त्री होती है, यदि दोनों बराबर हों, तो नपुंसक अथवा एक लड़का और एक लड़की होते हैं, यदि दोनों का बीज दुर्बल वा अल्प हो, तो व्यर्थ जाता है ॥ ४९ ॥ निन्दित (छः) रात्रियों में और आठ अन्य रात्रियों में स्त्रियों का त्याग रखता हुआ पुरुष जिस किसी आश्रम में रहता हुआ भी ब्रह्मचारी ही है * ॥ ५० ॥

वेद में आधान के लिए यह जो ऋतु काल बतलाया है, और जिसका मनुस्मृति में यह विस्तार किया है, इसकी महिमा अब पश्चिमी विद्वानों ने भी जानी है, जैसाकि डाक्टर ट्राल लिखते हैं "पन्द्रह वर्ष हुए, कि मैं ने यह नियम प्रकाशित किया था, जिसकी कि सहस्रों मनुष्यों ने परीक्षा की और कृतकार्य हुए और थोड़े से अकृतकार्य रहे, वह नियम यह है कि—"रज बन्द होजाने के पश्चात् एक प्रकार की आर्तव स्त्री के गर्भाशय से निकलनी आरम्भ होती है, और दस बारह दिन तक प्रवृत्त रहती है, यदि रज के बंद हो जाने के दिन से लेकर इन दस वा बारह दिनों के अन्दर समागम न किया जाए, तो गर्भ स्थिति कभी नहीं होगी' (संस्कार चन्द्रिका में से उद्धृत)

ऋतुकाल के १२ दिनों में से इस आर्तव के निकलने का

---

* मनुस्मृति के इन उपदेशों में इस बात की प्रशंसा की है कि पुरुष बिना ऋतु काल के स्त्री के पास न जाए, और ऋतुकाल में भी एक ही बार जाए, क्योंकि पहली चार रात्रियें तो त्याज्य हैं, और ग्यारहवीं और तेरहवीं भी त्याज्य कहीं, यह छः हुई, इन से अतिरिक्त ८ और छोड़नी कही हैं, ये मिलकर १४ हुई, सो १६ में से शेष दो ही रहीं। सो इन दो में से पुत्रार्थी हो तो युग्म में, कन्यार्थी हो तो अयुग्म में जाए, इस प्रकार एक ऋतु काल में एक ही रात्रि में गमन की प्रशंसा है ॥

हर एक स्त्री के लिए कोई न कोई विशेष दिन भी होता है, जैसा कि वही डाक्टर महोदय लिखते हैं—" सहस्रों परीक्षाओं से यह ज्ञात हुआ, कि एक चौथाई स्त्रियों की दशा में आर्तव पांचवें छटे और सातवें दिन रज बंद होने के पश्चात् योनि के मुख की ओर उतरा, जिन का छटे दिन उतरा, उन की संख्या सब से अधिक थी, और शेष आठवें चौथे नवें तीसरे और दशवें दिन " इस से विदित होता है, कि हरएक स्त्री की दशा में एक विशेष दिन गर्भ ग्रहण के अति योग्य होता है । चिकित्सा के ग्रन्थों में उस के भी लक्षण दिये हैं । सामान्यतः यह बात अधिक ध्यान के योग्य है कि पांचवीं से चौदहवीं तक रात्रियों में से उत्तरोत्तर रात्रियें उत्तम हैं, विशेषतः आठवीं दसवीं और बारहवीं । जैसा कि लिखा है—

एषूत्तरोत्तरं विद्यादायुरारोग्यमेव च ।
प्रजा सौभाग्यमैश्वर्यं बलं च दिवसेषु वै ॥

(सुश्रुत शारीर स्थान)

इन दिनों में से उत्तरोत्तर आयु, आरोग्य, सन्तति,सौभाग्य ऐश्वर्य और बल आता है ॥

डाक्टर ट्रोल पुत्र और कन्या की उत्पत्ति के विषय में यह नियम बतलाते हैं, "हमारी वर्तमान विद्या सम्बन्धी दशा हमें एक मार्ग बतलाती है, वह यह है, कि हम ऋतु काल के अनुसार चलें, बहुतायत से साक्षियां इस बात की मिलती हैं, कि पहले दिनों में आधान करने से लड़कियां और पिछले दिनों में समागम करने से लड़के उत्पन्न होते हैं" ॥

शुद्ध आहार व्यवहार की सब को ही आवश्यकता है, पर चरक

में लिखा है, कि सन्तानोत्पादन के लिए आठ दिन पूर्व ही स्त्री पुरुष को इस ओर विशेष ध्यान देना चाहिए। जैसी सन्तति की वे कामना करते हैं, वैसे आहार व्यवहार का सेवन करें, वैसे दृश्य देखें और वैसे पुरुषों के चरित्र पढ़ें सुनें, और वैसी सन्तति के लिए परमात्मा की आराधना करते रहें। आधान वाली रात्रि से पूर्व प्रातःकाल शुद्ध हो, शुद्ध वस्त्र पहन यज्ञ करें। यज्ञिय मन्त्र गर्भाधान और गर्भरक्षा के नियमों को बतलाते हैं, उनके द्वारा परमात्मा से सहायता मांगी जाती है।

यस्यै ते यज्ञियो गर्भो यस्यै योनि हिरण्ययी।
अंगान्यह्रुता यस्य तं मात्रा समजीगमᳫंस्वाहा ॥

(यजु० ८। २९)

जिस तुझ का गर्भ याज्ञिय है, और योनि सुवर्णमयी (निर्दोष और शुद्ध गुणों से युक्त है, उस माता के साथ उस (गर्भ) को मिलाता हूं, जिसका कोई अंग (शरीर का वा चरित्र का) कुटिल नहीं है॥

अब गर्भाधान के अनन्तर दम्पती फिर वैसी चेष्टा का ध्यान भी मनमें न लाएं, गर्भ की अवस्था में तो भूलकर भी नहीं, नहीं तो सन्तति पर अच्छा प्रभाव नहीं पड़ेगा, और पीछे भी दो अढ़ाई वर्ष तक ब्रह्मचारी रहें, ऐसा करना मनुष्य के लिए असम्भव सा जान पड़ता है, क्योंकि अब वह अपने संस्कार बिगाड़ चुका है। किन्तु पशु पक्षी व्यर्थ चेष्टा नहीं करते। मनुष्य ही व्यर्थ चेष्टा में फंसा है। यह बात इसकी प्रकृतिसिद्ध नहीं, उसने स्वयं अपने अन्दर अब एक वासनामयी प्रकृति वा विकृति उत्पन्न करली है। जो इस विकृति को त्याग प्रकृति पर चलेगा, वह अमोघवीर्य

होगा। दीर्घजीवी होगा। और वृद्धावस्था में भी आनन्दमय जीवन का उपभोग करेगा। क्योंकि जितना तेज मनुष्य के शरीर में लीन होगा, उतनी ही उसके बल बुद्धि तेज आनन्द उत्साह और ब्रह्मवर्चस की वृद्धि होगी। और उसकी सन्तति में व्यर्थ-चेष्टा की वासना प्रविष्ट ही न होगी, इस लिए पूर्ण उत्साह के साथ मनुष्य को अपनी वास्तव प्रकृति की ओर मुड़ना चाहिए, यही सच्चा आर्यजीवन है*॥

पुंसवन संस्कार।

गर्भ स्थिति का निश्चय होजाने पर, पूर्व इसके कि गर्भ हिलने लगे, पुंसवन संस्कार किया जाता है। हिलना (फड़कना) चौथे वा पांचवें महीने प्रतीत होने लगता है, इसलिए पुंसवन संस्कार दूसरे वा तीसरे महीने पूरा किया जाता है, इसके प्रयोजन ये हैं—

(१) ईश्वर की कृपा का धन्यवाद गाना।

(२) गर्भ के रक्षण और पोषण पर विशेष दृष्टि दिलाना।

(३) बच्चे को वीर्यवान्, धैर्यवान् शक्तिशाली और धर्मशील बनाने वाले संस्कारों के डालने का व्रत धारना।

ईश्वर का धन्यवाद करने के पीछे जो मन्त्र इस संस्कार में पढ़े जाते हैं, उनमें से यह मन्त्र गर्भगत बालक को सम्बोधित करके पढ़ा जाता है—

"सुपर्णोऽसि गरुत्माँस्त्रिवृत् ते शिरो गायत्रं चक्षुर्बृहद्रथन्तरे पक्षौ। स्तोम आत्मा छन्दाᳬस्यङ्गानि

* इस सच्चे आर्य जीवन तक न पहुंचने वाला भी, जितना अपने आपको संभाल सके उतना ही उत्तम है।

यजूᳪषि नाम। साम ते तनूर्वामदेव्यं यज्ञायज्ञियं पुच्छं धिष्ण्याः शफाः सुपर्णोऽसि गरुत्मान् दिवं गच्छ स्वः पत (यजु १२। ४)

(हे गर्भस्थ जीव !) तू सुन्दर पंखों वाला गरुड़ (पक्षियों का राजा, सर्पों=दुष्टों का नाशक) है, त्रिवृत (स्तोत्र) तेरा सिर है, गायत्र (साम) नेत्र हैं, बृहद् और रथन्तर (साम) (दाएं बाएं के) दो पंख हैं, स्तोम (ईश्वर के महिमा के प्रकाशक स्तोत्र) तेरा आत्मा है, छन्द अंग हैं, यजु नाम (चाल चलन) है, वामदेव्य साम तेरा शरीर है, यज्ञायज्ञिय (साम) तेरा पुच्छ है, अग्निकुण्ड तेरे पंजे है, तू सुन्दर पंखों वाला गरुड़ है, द्यौ की ओर जा, स्वर्गीय प्रकाश की ओर उड़ ॥

यह एक आदर्श जीवन दिखलया है। पक्षी की गति भूमि और आकाश दोनों में होती हैं। जीवधारियों में पक्षी सबसे बढ़कर स्वस्थ और फुर्तीले होते हैं और गरुड़ पक्षियों में भी राजा माना जाता है। टेढ़ी चाल वाले (सर्प) इसके डर से छिपते फिरते हैं। गरुड़ के रूपक से पहले तो इन सब बातों की ओर दृष्टि दिलाई गई है। फिर इस पक्षी के भिन्न २ अंग और आत्मा बतलाते हुए इसको एक दिव्य जीवन के रूप में वर्णन किया है। इस पक्षी का लक्ष्य यह है, कि इसकी उडारी दिव्य प्रकाश की ओर हो, और गति द्यौ लोक तक हो। अपने पुत्र का ऐसा आदर्शजीवन बनाने के संस्कार माता पिता के हृदय में जाग्रत रहें,और वे कुक्षिस्थ बालक माता के इन संस्कारों से संस्कृत होता रहे। इस अभिप्राय से ऐसे महापुरुषों की जीवनकथाओं के सुनने, स्वयं वैसे उच्च भाव रखने, उदार कार्य करने, और

महिमा वाले दृश्य देखते रहने से बच्चे पर ये संस्कार पड़ते हैं। और पवित्र आहार व्यवहार से बच्चे की रक्षा और पुष्टि होती है। सो सावधानी के साथ इन सारी बातों को पूर्ण करते रहने के लिए यह संस्कार आरम्भक कर्म हैं।

भगवान् वेद ने अन्तर्वत्नी के लिए यह आशीर्वाद दिया है—

दशमासाञ्छशयानः कुमारो अधि मातरि ।
निरैतु जीवो अक्षतो जीवो जीवन्त्या अधि ॥
(ऋग् ५। ७८। ९)

दस महीने जीव माता के कुक्षि में रहता हुआ कुमार बन कर जीवित और प्रसन्न हुआ जीती जागती (माता) से बाहर आवे ॥

इसमें चार बातें कही हैं—(१) जीव बीज में पहिले ही होता है (२) कुक्षि में रहने की अवधि पूरे दस मास है, मास से अभिप्राय चान्द्रमास है, जो २८ दिन का होता है (३) बालक जीता हुआ और पूर्णाङ्ग होकर बाहर आवे (४) माता के जीवन पर और उसके स्वास्थ्य पर कोई प्रहार न हो। इस अर्थ की सिद्धि के लिए धन्वन्तरि मुनि ने जो उपदेश दिए हैं, उनका सारांश यह है—'क्षेत्रज्ञ (जीव) बीज के साथ ही गर्भाशय में प्रविष्ट होकर स्थित होता है' (सुश्रुत शारीरिकस्थान ३। ३)

उसी समय से लेकर स्त्री को चाहिए, कि समागम, थकावट दिन का सोना, रात का जागना, चिन्ता शोक, भय, ऊंचे नीचे चढ़ना उतरना, जुलाब लेना, लहू निकलवाना, मल मूत्र आदि के वेगों को रोकना, अनुचित परिश्रम, अनुचित आहार अनुचित व्यवहार इनसे बची रहे। क्योंकि—

दोषाभिघातैः गर्भिण्या यो यो भागः प्रपीड्यते।
स स भागः शिशोस्तस्य गर्भस्थस्य प्रपीड्यते॥
(सुश्रु० शारी० ३। ६)

वातादि दोषों और बाहर के आघातों से अन्तर्वत्नी का जो २ भाग पीडित होता है, वह २ भाग उस गर्भस्थ बच्चे का भी पीडित होता है।

चौथे महीने शिशु का हृदय प्रकट होजाता है, अतएव उस की प्रकृति के अनुसार अन्तर्वत्नी में इच्छाएं उत्पन्न होने लगती है। उन इच्छाओं का निरादर करने से बच्चे के शरीर वा स्वभाव को हानि पहुंचती है, इसलिए जो २ उसकी इच्छा हो, उसको देना चाहिये। उसकी इच्छाओं को पूरा करने से शक्तिमान् दीर्घ-जीवी, और मनस्वी पुत्र उत्पन्न होता है। पर यदि गर्भ को हानि पहुंचाने वाली कोई इच्छा उत्पन्न हो, तो यह जानना चाहिए, कि वह स्त्री के स्वभाव दोष से उत्पन्न हुई है, उससे स्त्री को बचना और बचाना चाहिए।

भयंकर दृश्यों के देखने भयंकर शब्दों के सुनने से बचे, सदा प्रसन्नवदन रहे, शुद्ध रहे और शुद्ध वस्त्र पहने, बासी वा सड़ा गला अन्न वा फल न खाए, मन भाते, नर्म पतले भोजन खाए। इस प्रकार उत्तम आहार आचार व्यवहार से रहती हुई अन्तर्वत्नी सुखप्रसवा होती है और रूप गुणवान् पुत्र को जन्म देती है।

सीमन्तोन्नयन संस्कार।

यह संस्कार चौथे, छटे, वा आठवें मास किया जाता है। सीमन्तोन्नयन का अर्थ है सीमन्त निकालना। स्त्रियें सिर के दाईं ओर के बालों को दाईं ओर करके, और बाईं ओर के

बालों को बांई ओर करके, सिर के ऊपर ठीक मध्य में जो एक रेखा सी बनाती हैं, उसको सीमन्त (मांग) कहते हैं । इस संस्कार में परमात्मा का धन्यवाद गाकर और यज्ञ करके पति अपने हाथों से पत्नी का सीमन्त निकालता है । इस संस्कार का उद्देश्य है स्त्री का स्त्री समाज में मान बढ़ाना । सीमन्तिनी होकर स्त्री अपनी ज्ञाति की प्रतिष्ठित स्त्रियों की गणना में आ जाती है । अतएव सीमन्तिनी यह नाम एक बड़े आदर का नाम है, जैसे आज कल चौधरानी । यह संस्कार एक सामाजिक संस्कार माना जाता है, और बड़े समारोह से किया जाता है, क्योंकि इससे स्त्री को समाज की मान्यगण्य स्त्रियों में लिया जाता है, और उसका उत्साह बढ़ाया जाता है । आजकल यह संस्कार रीतां चढ़ने के नाम से प्रसिद्ध है, पर अब निरी रीतां ही करदी जाती हैं; संस्कार पूर्ण नहीं किया जाता । संस्कार शास्त्रमर्यादा के अनुसार पूर्ण होना चाहिए । ऊपर लिख आए हैं, कि चौथे महीने शिशु का हृदय प्रकट होजाता है । सो चौथे महीने से स्त्री को विशेषतः उत्तमोत्तम संस्कार अपने अन्दर लेजाने चाहियें । अतएव इस संस्कार में बाजों के साथ स्त्री को राजा का वा किसी अन्य शूरवीर की वार सुनानी लिखी है । इस समय से माता की रुचियों का बच्चे पर बहुत ही प्रभाव पड़ता है । इसलिए जैसी रुचियां वाला बच्चे को बनाने चाहते हो, उन बातों से पूर्ण प्रेम और चाह अन्तर्वत्नी के मन में उत्पन्न करदो । फिर बच्चा लोक में आकर अपना पूरा चमत्कार उन कामों में दिखलाएगा । किन्तु यह भी ध्यान रखना चाहिए, कि जिन संस्कारों को जीव पूर्वजन्म से लेकर आया है, उसके अनुसार अन्तर्वत्नी के हृदय में भी इच्छाएं उत्पन्न होती हैं, उनको उत्साह और सच्ची

धर्ममर्यादा से पूर्ण करना चाहिए। वीरता के संस्कार दोनों प्रकार से सफल होते हैं डाके मारने से भी और राष्ट्र की रक्षा के लिए भी, सो तुम धर्मवीरों के संस्कार डालो, ताकि उसका वीरता का मुख धर्म की ओर हो। इसी प्रकार सब संस्कारों के विषय में जानो। धन्वन्तरि लिखते हैं—

देवताब्राह्मणपराः शौचाचार हिते रताः।
महागुणान् प्रसूयन्ते विपरीतास्तु निर्गुणान्॥
(सुश्रुत शारीरिक० २। ५१)

जो अन्तर्वत्नियें ईश्वर की आराधना और ब्राह्मणों की सेवा सत्संग परायण होती हैं, और शौच और सदाचार में रत होती हैं, वे महागुणी पुत्रों को जन्म देती हैं, इन से जो उलट चलती हैं, वे निर्गुणियों को जन्म देती हैं।

पारस्कर के अनुसार यह संस्कार प्रथम गर्भ में ही होता है। अभिप्राय यह है, कि यह संस्कार स्त्री का है, और स्त्री सब गर्भों में वही है, जो संस्कृत हो चुकी है।

जात-कर्म संस्कार।

आर्य सन्तान का जन्म होते ही जो संस्कार किया जाता है, उस का नाम जातकर्मसंस्कार है।

इस के फल अनेक हैं (१) सुख प्रसूति के लिए ईश्वर से सहायता की प्रार्थना और स्वयं सहायता करना। जैसा कि पारस्कर लिखते हैं, कि जब प्रसव-पीड़ा आरम्भ हो, तब भर्ता इस मन्त्र से पत्नी पर जल छिड़के—

एजतु दशमास्यो गर्भो जरायुणा सह। यथाऽयं वायुरेजति यथा समुद्र एजति एवायं दशमास्योऽस्रज्जरायुणा सह (यजु ८। २८)

यह दस महीने का गर्भ जेर सहित चले, जैसे यह वायु चलता है, जैसे समुद्र चलता है, वैसे (अपने नैसर्गिक स्वभाव से) यह दस महीने का गर्भ जेर सहित चले ।

जल छिड़कने से प्रसव में सहायता मिलती है जैसा कि डाक्टर सरविलियम म्यूर (फैमिली मेडीसन में) लिखते हैं—प्रसव-पीड़ा के समय गर्भिणी के मुख और हाथों पर ठंडा पानी स्पंज से लगाए । मन्त्र द्वारा ईश्वर से सहायता मांगी है । और स्त्री का जी बहलाते हुए ध्यान प्रसव-कर्म की ओर खींचा है ।

अथर्व काण्ड १ सूक्त ११ भी इसी विषय का है, जिस का छटा मन्त्र यह है—

यथा वातो यथा मनो यथा पतन्ति पक्षिणः। एवात्वं दशमास्य साकं जरायुणा पत अवजरायु पद्यताम् ॥

जैसे वायु जैसे मन और जैसे पक्षी वैसे तू हे दशमहीने के कुमार जेर के साथ उड़ कर आ (सुख से आ) और (तेरे पीछे) जेर नीचे उतरे ।

जब बच्चे का जन्म होता है, तो ईश्वर के धन्यवाद पूर्वक मेधाजनन और आयुष्य अर्थात् मेधा के जनक और आयु के वर्धक दो कर्म किये जाते हैं ।

विधि में आता है, कि पिता मधु और घृत मिलाकर सोने की सलाई से बच्चे को चटाए, इस पर श्री स्वामीजी महाराज लिखते हैं, कि बच्चे की जिह्वा पर ' ओम् ' लिखे । और फिर कान में कहे ' वेदोसि ' तू वेद है । अर्थात् एक आर्य पिता अपनी सन्तान को सब से पहले परमात्मा के नाम की मिठास देता है, और सब से पहला शब्द उस के कानों में वेद

का देता है । तू वेद है अर्थात् वेदों के रहस्य को जानता हुआ और वैदिक जीवन धारण करता हुआ वेदरूप बनकर दिखला।

बच्चे को हाथ से स्पर्श करता हुआ पिता यह मन्त्र पढ़ता है—

अश्मा भव परशुर्भव हिरण्य मस्तुतं भव ।

आत्मा वै पुत्रनामासि स जीव शरदः शतम् ॥

तू एक चटान (समान) बन, फरसा बन, कुन्दन सोना बन, तू मेरा अपना आप है पुत्र नाम वाला, सो तू सौ वर्ष जीता रह ।

पिता का यह धर्म है, कि वह पुत्र को ऐसा बनाए कि उस का शरीर वज्रमय हो, शत्रुओं को काट कर रखदे, और उस जीवन में कुन्दन सोना हो ।

इसके अनन्तर वह स्त्री को इस प्रकार सम्बोधन करता है।

इडासि मैत्रावरुणी वीरे वीर मजीजनथाः ।

सा त्वं वीरवती भव याऽस्मान् वीरवतोऽकरत ॥

तू मित्र और वरुण की पुत्री इडा* है, हे वीरस्त्रि ! तू ने एक वीर को जन्म दिया है, सो तू वीरोंवाली हो (पितृकुल और पतिकुल दोनों में तेरे रक्षक वीरों की वृद्धि हो) जिसने हमें वीरों वाला बनाया है ॥

---

* इडा सूर्यवंशी मनु की पुत्री और चन्द्रवंशी राजा बुध की पत्नी थी, जिसका पुत्र पुरूरवा था । वीर पुत्री, वीर पत्नी और वीर माता और स्वयं वीरा होने से उसके रूप में (रूपक अलंकार से) अपनी पत्नी को सम्बोधन करता है । यह इडा किसी सम्बन्ध विशेष से मित्र और वरुण की पुत्री भी कहलाती थी ॥

स्त्री के लिए कैसा उत्साह बढ़ाने वाला और कितना आदरमान देने वाला यह वचन है। यहां 'वीरे' सम्बोधन देने से स्पष्ट है, कि आर्यस्त्रियें स्वयं भी वीरा होती थीं। अड़े समयों में पतियों और पुत्रों का साथ देतीं थीं, और अपने पातिव्रत की रक्षा में स्वयं समर्थ होती थीं। ऐसी ही वीरांगनाओं को "वीरपत्नी वीर माता हो" यह असीस पूरी सजती है।

इसी प्रकार और भी बहुत से उत्साह भरे वचनों और अनुष्ठानों के साथ जातकर्म संस्कार पूर्ण किया जाता है।

जिस जाति का हृदय अपनी सन्तान के विषय में ऐसे उच्च भावों से भरा रहता है, उस जाति की अवस्था सदा उन्नत होती रहती है, पिता से पुत्र और पुत्र से पोते बढ़कर निकलते हैं, अतएव इस संस्कार की समाप्ति पर शतपथ में कहा है—

तं वा एतमाहुरतिपिता बता भूरति पितामहो बताभूः।
परमां बत काष्ठां प्रापच्छ्रिया यशसा ब्रह्मवर्चसेन॥

ऐसे पुत्र के विषय में कहते हैं अहो! यह पिता से बढ़कर हुआ है, यह पितामह से बढ़कर हुआ है,* अहो यह श्री, यश और ब्रह्मवर्चस (ऐश्वर्य यश और धार्मिक तेज) से सबसे ऊंची पदवी को जा पहुंचा है।

---

* पिता से पुत्र और पुत्र से पोता बढ़कर निकले, यही उन्नतिशील जाति का लक्षण होता है। पिता की महिमा इसी में है, कि उसका पुत्र उससे बढ़जाए—

सर्वत्र जयमन्विच्छेद पुत्रादिच्छेत् पराजयम्।

मनुष्य को चाहिए, कि सब जगह अपनी जीत ढूंढे [किसी से पीछे न रहे, सबसे आगे बढ़ने की चेष्टा करे] पर पुत्र से पराजय की इच्छा करें।

नामकरणसंस्कार ।

यह संस्कार जन्म से ११ वें दिन किया जाता है । यदि उस दिन न होसके, तो १०१ वें दिन, वा दूसरे वर्ष के पहले दिन । १० दिन बालक और प्रसूता की विशेष रक्षा के लिए हैं । संख्या १० पर समाप्त होती है, और ११ से फिर बढ़ने लगती है, १०० पर समाप्त होती है और १०१ से फिर बढ़ने लगती है, वर्ष पर समाप्त होती है और जन्म दिन से बढ़ने लगती है । और मनुष्य के मन पर इस बात का प्रभाव पड़ता है, कि वह वृद्धि वाले कार्यों का वृद्धि से सम्बन्ध रक्खे, समाप्ति से नहीं । इसलिए न्योंदरा ११, २१, ५१, १०१, इत्यादि डालते हैं । और नए कार्य मासान्त को आरम्भ नहीं करते ॥

इस संस्कार का प्रयोजन यह है, कि नाम उत्तम और सार्थक रक्खा जाय । नाम का प्रभाव मनुष्य पर बहुत अच्छा पड़ता है । जब २ वह अपना नाम लिखेगा, वा उस नाम से कोई उसे सम्बोधन करेगा, तब २ उसके मन पर विशेष प्रभाव पड़ता रहेगा । जब कोई पुरुष प्रभावशाली कार्य कर दिखलाता है, तो उसका कोई नया ही प्रभावशाली नाम भी लोग रख देते हैं वा उसको कोई पदवी दे देते हैं, वह भी एक सार्थक नामही होता है, देखिये उस नाम को फिर वह पुरुष कितना प्यार करता है । यह होता है एक प्रभावशाली नाम का प्रभाव, सो नाम उत्तम, सार्थक और प्रभावशाली ही रक्खा जाय, और उसका नाम जगत में विख्यात हो, इस अभिप्राय से ईश्वराराधना और यज्ञ करके बड़ों की उपस्थिति में नाम रखने की प्रथा आर्यजाति ने चलाई है ॥

निष्क्रमण संस्कार।

निष्क्रमण का अर्थ है बाहर निकालना, यह संस्कार तीसरे वा चौथे महीने किया जाता है। आर्यवृद्धों ने यह संस्कार इसलिए नियत किया है, कि इस दिन से आरम्भ करके प्रति दिन बच्चे को खुली वायु में भ्रमण कराते और नए २ उत्तम दृश्य दिखलाते रहना चाहिये। ऐसा करने से बच्चा प्रसन्न रहेगा, हसमुखा बनेगा, और उसकी शारीरिक और मानसिक उन्नति अच्छी होगी। निश्चित जानो, कि ज्ञान निरा पाठशालाओं में पढ़ने से ही प्राप्त नहीं होता, वह नेत्र, श्रोत्र, घ्राण, त्वचा, रसना तथा हाथ पाँवों आदि के द्वारा अधिक अच्छा प्राप्त होता है। एक पढ़ने वाला छोटा विद्यार्थी जिसने उद्यान में जाकर आम का पेड़, उसकी नई २ कोंपलें; बौर, अंबियां और आम आंखों देखे हैं, उसको आम की कहानी पूरी समझ में आती है, रोचक प्रतीत होती है और स्मरण रहती है। उसके विपरीत उस बच्चे को, जिसने आम का वृक्ष नहीं देखा, पुस्तक में उसकी प्रतिकृतिमात्र देखी है, उसको यह कहानी नीरस प्रतीत होती है और भूल जाती है। इसलिए भ्रमण कराने और नए २ दृश्य दिखलाते रहने में जहां बच्चे का स्वास्थ्य अच्छा रहता है, वहां उसकी बुद्धि और स्मृति भी बढ़ती है, और पदार्थों के गुण अवगुण परखने की शक्ति भी बढ़ती है। इसीलिए ऋषियों ने यह संस्कार के रूप में नियत किया है, कि कोई भी माता पिता सन्तान के विषय में अपने इस कर्तव्य को न भूलें।

इस संस्कार में जो सूर्य का अवलोकन कराते समय यह मन्त्र पढ़ा जाता है—

तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत् । पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतꣳशृणुयाम शरदःशतं प्रब्राम शरदः शतमदीनाः स्याम शरदःशतं भूयश्च शरदः शतात् ।

इससे स्पष्ट है, कि इस संस्कार का फल इन्द्रियशक्तियों की वृद्धि और दीर्घजीवन है ॥

अन्नप्राशन संस्कार

अन्नप्राशन=अन्नखिलाना । यह संस्कार छटे महीने किया जाता है । यह संस्कार इस अभिप्राय से नियत किया गया है, कि एक तो जल्दी ही कोई बच्चे को अन्न खिलाना न आरम्भ कर दे, यदि माता के दूध ऊनं हो, वा माता रुग्ण हो, तो धाया वा गौ आदि के दूध का प्रबन्ध करे । पर अन्न छः महीने से पहले कभी न खिलाए । दूसरा अभिप्राय यह है, कि प्यार से बच्चे को स्वादों में कभी न डालें, अपितु सदा सादे हितकर अन्नों का अभ्यास कराएं, जैसा कि अन्न खिलाने के इस मन्त्र में है—

अन्नपतेऽन्नस्य नोदेह्यनमीवस्य शुष्मिणः । प्रप्र दातारं तारिष ऊर्जं नो धेहि द्विपदे चतुष्पदे ॥

(यजु ११ । ८३)

हे अन्न के स्वामी (ईश्वर) हमें सदा नीरोग रखनेवाला और बलकारक अन्न दीजिये, दाता को बढाते रहिये, और हमारे मनुष्यों और पशुओं के लिए पराक्रम दीजिये ॥

जिस आहार से बच्चा सदा नीरोग (निरोगा) रहे, उस का बल और पराक्रम बढ़ता रहे, उसी का अभ्यास कराए, जिससे कि बड़ा होने पर उसकी प्रकृति स्वयमेव ऐसेही आहार में रुचि रखने वाली होजाय ॥

चूड़ा कर्म्म वा मुण्डन संस्कार ।

यह संस्कार जातीय संस्कार है, इस संस्कार से बच्चे को आर्यजाति में प्रविष्ट किया जाता है । अतएव यह मुख्य संस्कारों में से एक है, इसके पीछे बालक अपना जातीय चिन्ह शिखा धारण करता है । जातीय चिन्ह बड़ा प्रभावशाली होता है, देखो, हिन्दुजातियां जो किसी कारण से किसी समय अछूत मानी गईं । उनमें जातीय चिन्ह और आचार बना रहने से वे हमारी ओर खिंचे चले आरहे हैं, और हम भी उनकी मानमर्यादा को बढ़ाकर खुले हृदय से उनको जातीय अधिकार देरहे हैं । मानों एक बड़ा विच्छेद होकर भी इस जातीयचिन्ह के कारण उन से सम्बन्ध तनिक भी नहीं टूटा है । यह प्रत्यक्ष प्रभाव जातीय चिन्ह और मर्यादा का हमारे सामने है ।

दूसरा यह अनुभवसिद्ध है, कि सिर के बाल मुंडवा देने वा छोटे रखने से सिर और आंखों को ठंडक पहुंचती है, मन प्रफुल्लित होता है और उत्साह बढ़ता है । चिकित्सा शास्त्र में क्षौर के ये गुण लिखे हैं—

केशनखरोमापमार्जनंहर्षलाघवसौभाग्यकरमुत्साह वर्धनम् ॥
(सुश्रुत चिकित्सा स्थान अ० २४ सू० ७२)

केश नख रोमों का कटवाना हर्ष लाघव शोभा और उत्साह का बढाने वाला है ॥

पौष्टिकं वृष्यमायुष्यं शुचि रूपविराजनम् ।
केशश्मश्रुनखादीनां कर्तनं संप्रसाधनम् ॥

सिर के बाल, दाढ़ी, नख आदि को कटवाना और साफ रखना, पुष्टि देनेवाला, उत्पादन शक्ति और आयु के बढ़ाने वाला, पवित्रता देनेवाला और सौन्दर्य का चमकाने वाला है ॥

क्षौर के ये फल जो आयुर्वेद में कहे हैं, यही फल उस मन्त्र में प्रकाशित किए हैं, जो मुण्डन करते समय पढ़ा जाता है॥

निवर्तम्यायुषेऽन्नाद्याय प्रजननाय रायस्पोषाय सुप्रजास्त्वाय सुवीर्याय (यजु ३ । ६३)

आयु, बल, उत्पादन शक्ति, उत्तम सन्तान, और ऐश्वर्य वृद्धि की योग्यता संपादन करने के लिए तेरा मुण्डन करता हूं ॥

ब्रह्मचर्य आश्रम वा ब्रह्मचर्य व्रत

यथेष्ट आहार व्यवहार से चन्द्रकला की नांई बढ़ता हुआ आर्यकुमार जब इस योग्यता को प्राप्त होजाता है, कि वह व्रतों का जीवन धारण करे, तब उसको आचार्यकुल में भेज दिया जाता है* कि आचार्य के पास रहकर ब्रह्मचर्य व्रत को धारण करके वेदादि शास्त्रों का अध्ययन करे, और वृत्ति के उपायों को सीखे । आचार्य यदि उसको यथाविधि शिक्षण देने का भार अपने ऊपर उठा लेता है, तो उसको अपने शिक्षणालय में प्रविष्ट कर लेता है । यह प्रवेशकर्म बड़े समारोह के साथ एक विशेष संस्कार के रूप में किया जाता है, इस संस्कार का नाम—उपनयन संस्कार है । यह संस्कार

* ब्राह्मण को आठवें क्षत्रिय को ग्यारहवें और वैश्य को बारहवें वर्ष भेजा जाता है ॥

आर्य सन्तान को एक नया जीवन देने के लिए किया जाता है। आचार्य अग्नि को प्रज्वलित करके उसके पश्चिम में बालक को बिठलाता है, और स्वयं उसके उत्तर में बैठता है। तब बालक हाथ जोड़ कर कहता है—

ब्रह्मचर्यमागाम्, ब्रह्मचार्यसानि ।

मैं ब्रह्मचर्य (की आयु) को आपहुंचा हूं, मैं ब्रह्मचारी बनूं। तिस पर आचार्य उसको वस्त्र और मेखला पहना कर यज्ञोपवीत देता है जिसके मन्त्र में है—

आयुष्यमग्र्यं प्रतिमुञ्च शुभ्रं यज्ञोपवीतं बलमस्तु तेजः ।

आयु के लिए हितकारी इस उज्ज्वल और उत्तम यज्ञोपवीत को पहन, यज्ञोपवीत तेरे लिए बल हो, तेज हो ॥ यज्ञोपवीत आयु, बल और तेज के लिए धारण किया जाता है। कोई भी आर्य बच्चा अल्पायु, बलहीन वा तेजोहीन नहीं होना चाहिए। सो यज्ञोपवीत देकर आचार्य उस बालक को आयुष्मान्, बलवान् और तेजस्वी बनाने का भार अपने ऊपर लेता है, और बालक वैसा बनने की प्रतिज्ञा धारता है। फिर जब आचार्य बालक से पूछता है 'कस्य ब्रह्मचार्यसि' तू किसका ब्रह्मचारी है, तो इसके उत्तर में बालक कहता है—'भवतः'—आपका तब आचार्य कहता है—इन्द्रस्य ब्रह्मचार्यसि, अग्निराचार्यस्तवाहमाचार्यस्तवासौ=तू इन्द्र का ब्रह्मचारी है अग्नि तेरा आचार्य है, मैं तेरा आचार्य हूं, हे अमुक !!! बल का अधिपति होने से परमात्मा का नाम इन्द्र है, और तेज और प्रकाश का अधिपति होने से अग्नि। इन दो नामों से यह बतलाना अभिप्रेत है, कि तेरा आचार्य बल तेज और प्रकाश का दाता परमात्मा है। तू उसी का ब्रह्मचारी बन

कर बल तेज और विज्ञान की वृद्धि कर, उसी के प्रदर्शित मार्ग पर लेजाने के लिए मैं तेरा आचार्य हूंगा । इस प्रकार उसको दीक्षित करके वेद का आरम्भ करवाता है, इसीका नाम—

वेदारम्भ संस्कार

है. इसमें बालक को आचार्य गायत्री का उपदेश देता है । यही वेद का आरम्भ है । पूर्व आर्य ब्रह्मचारी को कैसे रंग में रंगना चाहते थे, यह उस मन्त्र से प्रकाशित है, जो कि ब्रह्मचारी खड़ा होकर अग्नि में समिदाधान करता हुआ पढ़ता है—

अग्नयेसमिधमाहार्षं बृहते जातवेदसे । यथा त्वमग्ने समिधा समिध्यस एवमहमायुषा मेधया, वर्चसा प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेन समिन्धे जीवपुत्रो ममाचार्यो मेधाव्यहं मसान्यनिराकरिष्णु र्यशस्वी तेजस्वी ब्रह्मवर्चस्यन्नादो भूयासꣳस्वाहा ”

मैं उस अग्नि के लिए समिधा लाया हूं, जो महान् और धन का उत्पादक है, जैसे तू हे अग्ने समिधा से चमकता है, इस प्रकार मैं आयु से, मेधा से, तेज से, प्रजा से पशुओं से और ब्रह्मवर्चस (धर्म के तेज) से चमकूं । मेरे आचार्य के पुत्र दीर्घजीवन वाले हों । मैं मेधावाला होऊं, (उपदेश किए हुए को) न भुलाने वाला, यशस्वी तेजस्वी ब्रह्मवर्चसी और अन्न का खाने वाला (पचाने की शक्ति वाला) होऊं ।

इससे स्पष्ट है, कि यहां उसको अपना जीवन ऐसा बनाने का उपदेश है, जिससे कि वह दीर्घजीवी हो, सदा स्वस्थ रहे, मेधावी हो, तेजस्वी हो, जगत् में विख्यात हो, और ब्रह्मवर्चसी हो ।

ऐसा उच्च जीवन पाने के लिए उसको तपस्वी बनाया जाता था । बड़ा ही सादा रहन सहन रखकर वह शरीर को कड़ा बना लेता था, जो शीत उष्ण के आगे कभी हार न खाए,

और हृदय को ऐसा दृढ़ बना लेता था, जो प्रतिकूल अवस्थाओं में कभी न घबराए। इन बाह्य साधनों के साथ एक आभ्यन्तर साधन, जो कि बड़ा भारी साधन है, वह ब्रह्मचर्यव्रत है। ब्रह्मचारी न केवल विषयसेवन से ही बचे, किन्तु विषय का ध्यान भी कभी उसके मन में न आए, इसका नाम ब्रह्मचर्यव्रत है। इसी मुख्य व्रत के नाम से इस आश्रम का नाम ब्रह्मचर्य आश्रम है। जब तक ब्रह्मचारी (वेद का विद्यार्थी) है और जब तक पूर्ण युवा नहीं हुआ है, तब तक वह ब्रह्मचर्य का पूर्णतया पालन करता है। इस प्रकार पवित्र जीवन के साथ जब वह इस आश्रम को पूर्ण करलेता है, तब उसका—

समावर्तन संस्कार

किया जाता है। समावर्तन के अर्थ हैं भली भांति लौटना। अर्थात् जीवन के जिस उद्देश्य को पूरा करने के लिए वह घर से निकला था, वह उसका पूर्ण हुआ, अब वह सफलता के साथ घर को लौटता है। जैसे उसके प्रवेश के समय आदर दिखलाया था, ऐसे ही सफलता के साथ लौटते समय उसको इस विशेष आदर के साथ स्नातक की पदवी दी जाती है॥

सो उपनयन जिसके आरम्भ का और समावर्तन समाप्ति का संस्कार है, उस ब्रह्मचर्य का महत्त्व भगवान् वेद ने इस प्रकार दिखलाया है—

आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्तः। तं रात्रीस्तिस्र उदरे बिभर्ति तं जातं द्रष्टुमभिसंयन्ति देवाः॥३॥(अथर्व ११।५)

आचार्य उपनयन करता हुआ शिष्यको गर्भ के रूप में अपने

पास लेता हुआ (अपनी जम्मेवारी में लेता हुआ) ब्रह्मचारी को अन्दर गर्भस्थ बनाता है, उसको तीन रात उदर में धारण करता है, जब वह जन्म लेता है, तो उसको देखने के लिए सब देवता इकट्ठे होते हैं।

उपनयन के अनन्तर मनुष्य का एक नया जीवन आरम्भ होजाता है। इसलिए आर्य जाति में उपनयन नए जीवन वा नए जन्म का व्यञ्जक माना गया है। यह जन्म ब्राह्म जन्म कहलाता है। इस जन्म से पुरुष द्विज (अर्थात् दो जन्मों वाला) कहलाता है। जिसका यह दूसरा जन्म न हो, वह द्विजत्व से पतित होजाता है। यही बात रूपक अलंकार से इस मन्त्र में दिखलाई है, कि आचार्य ब्रह्मचारी को अपनी सौंपना में लेकर पहले उसको गर्भस्थ बालक का रूप देता है।

मातुरग्रेऽधिजननं द्वितीयं मौञ्जीबन्धने।
तृतीयं यज्ञ दीक्षायां द्विजस्य श्रुति चोदनात् ॥(मनु२।१६९)

(एक आर्य का जन्म) श्रुति के अनुसार पहला माता से होता है, दूसरा उपनयन में होता है, तीसरा (अग्निष्टोम) यज्ञ की दीक्षा में होता है॥

यह जो नया जन्म होता है, इस में गायत्री उसकी माता और आचार्य पिता होता है, जैसा कि कहा है—

तत्र यद् ब्रह्म जन्मास्य मौञ्जीबन्धनचिन्हितम्।
तत्रास्य माता सावित्री पिता त्वाचार्य उच्यते। १७०।

इनमें से इसका ब्राह्मजन्म जो मौञ्जीबन्ध के चिन्ह वाला है, इसमें सावित्री इसकी माता और आचार्य पिता कहलाता है *।

---

*य आवृणोत्यवितथं ब्रह्मणा श्रवणा वुभौ।
स माता स पिता ज्ञेयस्तं न द्रुह्येत् कदाचन ॥(मनु२।१४४)

इस दृष्टि 'से उसको उदर में धारण करता है' का अर्थ होगा, गायत्री के उदर में धारण करता है, तीन रात उदर में धारण करने से अभिप्राय है, पहले तीन दिन में आर्यों के शौच आचार आदि में पक्का करता है।

उपनीय गुरुः शिष्यं शिक्षयेच्छौ च मादितः।
आचार मग्निकार्यं च सन्ध्योपासन मेव च ॥ (मनु२।६९)

गुरु शिष्य का उपनयन करके पहले शौच, आचार, अग्नि कार्य और सन्ध्योपासना की शिक्षा देवे।

'जब वह जन्मता है,तो उसके देखनेके लिए देवता इकट्ठे होते हैं' इसका तात्पर्य है, कि जब वह ब्रह्मचर्य आश्रम को पूर्ण कर लेता है, तो उसको आदर देने के लिए विद्वान् इकट्ठे होते हैं। अथवा उस में दिव्य शक्तियां आजाती हैं।

इयं समित् प्रथमा द्यौर्द्वितीयोतान्तरिक्षं समिधा पृणाति। ब्रह्मचारी समिधा मेखलया श्रमेण लोकां स्तपसा पिपर्ति ॥४॥

(ब्रह्मचारी की) पहली समिधा पृथिवी है, दूसरी द्यौ है, और तीसरी समिधा से वह अन्तरिक्ष को तृप्त करता है। ब्रह्मचारी समिधा से, मेखला से, श्रम से और तप से तीनों लोकों का पालन करता है *।

जो वेद से दोनों कान यथार्थ भरता है, उसको माता, पिता रूप जाने, उससे कभी द्रोह न करे (यहां जो आचार्य को ही माता और पिता दोनों रूप कहा है, यह आदर की दृष्टि से है, ब्राह्मजन्म में कौन माता और कौन पिता है इस विवेचना की दृष्टि से नहीं)

* ब्रह्मचारी प्रतिदिन तीन समिधा अग्नि में डालता है, उन तीनों से तात्पर्य तीनों लोकों को तृप्त करना है। श्रम और तपश्चर्या

ब्रह्मचार्येति समिधा समिद्धः कार्ष्णं वसानो दीक्षितो दीर्घश्मश्रुः । स सद्य एति पूर्वस्मा दुत्तरं समुद्रं लोकान्त्सं गृभ्य मुहुराचरिक्रत ॥६॥

ब्रह्मचारी जो समिधा (के होम) से प्रदीप्त हुआ, काला मृगान पहने हुए, लम्बी दाढ़ी से युक्त हुआ दीक्षित के रूप में चलता है, वह शीघ्र पहले समुद्र (ब्रह्मचर्य आश्रम) से उत्तर समुद्र (गृहाश्रम) में चला जाता है, और लोकों को वश में करके बार २ सुडौल बनाता रहता है ॥

नित्य प्रति समिधा के होम से जिसका तेज प्रचण्ड है । काला मृगान तपस्या और सादे जीवन का उपलक्षण है, लंबी दाढ़ी पूर्ण यौवन का उपलक्षण है । 'बार २ सुडौल बनाता रहता है,' अर्थात् उनको धर्म पर खड़ा करता रहता है, और तीनों लोकों में विकार नहीं उत्पन्न होने देता ।

ब्रह्मचारी जनयन् ब्रह्मापो लोकं प्रजापतिं परमेष्ठिनं विराजम् । गर्भो भूत्वाऽमृतस्य योना विन्द्रो भूत्वाऽसुरां स्ततर्ह ॥७॥

ब्रह्मचारी वेद, (वेदोक्त) कर्म, कर्मफल, और सर्वत्र प्रकाशमान प्रजा के अधिपति परमात्मा को प्रकट करता हुआ,* अमृत (ब्रह्मचर्य वा ब्रह्म) के स्रोत में गर्भरूप होकर, इन्द्र (शक्तिशाली) बनकर असुरों के टुकड़े २ उड़ा देता है ।

---

* के जीवन से और यज्ञों से तीनों लोकों की प्रजा में सुख शान्ति बढ़ती है ।

ब्रह्मचर्येण तपसा राजा राष्ट्रं विरक्षति ।
आचार्यो ब्रह्मचर्येण ब्रह्मचारिणमिच्छते॥१७॥

ब्रह्मचर्य से और तप से राजा राष्ट्र की रक्षा करता है, और आचार्य ब्रह्मचर्य से ब्रह्मचारी की इच्छा करता है ।

ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम् ।
अनड्वान् ब्रह्मचर्येणा श्वो घासं जिगीषति॥१८॥

ब्रह्मचर्य से कन्या युवापति को पाती है, ब्रह्मचर्य से बैल और घोड़ा घास को जीतना चाहता है* ॥

वेद में एक ओर जहां पुरुषों को ब्रह्मचर्य के पालनसे पूर्ण युवा और विद्वान बनकर विवाह करने की आज्ञा है, वैसे ही दूसरी ओर स्त्रियों को ब्रह्मचर्य पालन से युवति और विदुषी बनकर विवाह करने की आज्ञा है ।

ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्यु मुपाघ्नत ।
इन्द्रोह ब्रह्मचर्येण देवेभ्यः स्वराभरत् ।१९।

देवता ब्रह्मचर्य से और तप से मृत्यु को सदा मार हटाते हैं, इन्द्र ब्रह्मचर्य से देवताओं के लिए दिव्य प्रकाश लाता है ।

पृथक् सर्वे प्रजापत्याः प्राणानात्मसु बिभ्रति ।
तान्त्सर्वान् ब्रह्मरक्षति ब्रह्मचारिण्या भृतम्।२२।

---

* बहुत क्या पशुओं में भी ब्रह्मचर्य का महत्त्व स्पष्ट है, जो बैल या घोड़े ब्रह्मचर्य में रहते हैं, वे दूसरों से प्रबल होने के कारण उनसे अपना आहार जीत लेते हैं । प्रबल सांड और प्रबल घोड़े को आता देख दूसरे बैल और घोड़े घास छोड़ अन्यत्र जा चरने लगते हैं ।

प्रजापति के सब पुत्र (देव, मनुष्य और असुर) अलग २ अपने २ शरीरों में प्राणों को धारण किये हुए हैं, उन सब की वह ब्रह्म (वेद) रक्षा करता है, जो ब्रह्मचारी में फला फूला है (ब्रह्मचारी से पढ़ा हुआ वेद सब प्राणियों के रक्षण में समर्थ है)

ब्रह्मचारी ब्रह्म भ्राजद् बिभर्ति तस्मिन् देवा अधि विश्वे समोताः । प्राणापानौ जनयन्नाद्व्यानं वाचं मनो हृदयं ब्रह्म मेधाम् ॥२४॥

ब्रह्मचारी चमकते हुए ब्रह्म (ईश्वर वा वेद) को धारण करता है, उस में सारे देवते इकट्ठे रहते हैं, ब्रह्मचारी प्राण अपान व्यान वाणी मन हृदय वेद और मेधा को प्रकट करता हुआ विचरता है।

चक्षुः श्रोत्रं यशो अस्मासुधेह्यन्नंरेतो लोहितमुदरम् ।२५। तानि कल्पद् ब्रह्मचारी सलिलस्य पृष्ठे तपोऽतिष्ठत तप्यमानः समुद्रे । स स्नातो बभ्रुः पिङ्गलः पृथिव्यां बहु रोचते ॥२६॥

(हे ब्रह्मचर्य) दृष्टि श्रुति यश अन्न बीज रुधिर उदर पाचनशक्ति)हम में स्थापन कर(अर्थात् ब्रह्मचर्य के ये फल हैं)।२५। ब्रह्मचारी इन सब वस्तुओं को अपने लिए तय्यार कर लेता है, वह तप तपता हुआ समुद्र में जल की पीठ पर खड़ा हुआ है, * वह न्हाकर (स्नातकबनकर) भूरे बालों वाला लाल रंगवाला पृथिवी पर बहुत चमकता है । ।

---

* तपश्चर्या के बल से अब यह इस समुद्र (जगत् के प्रलोभनों से)ऊंचा हो कर खड़ा है, अब यह इस में डूब नहीं सकता है।

ब्रह्मचर्य के विषय में धर्म शास्त्र के उपदेश।

गर्भाष्टमेऽब्दे कुर्वीत ब्राह्मणस्योपनायनम्।
गर्भादेकादशे राज्ञो गर्भात्तु द्वादशे विशः॥३६॥(मनु अ० २)
आषोडशाद् ब्राह्मणस्य सावित्री नातिवर्तते।
आद्वाविंशात् क्षत्रबन्धोराचतुर्विंशतेर्विशः॥३८॥
अत ऊर्ध्वं त्रयोऽप्येते यथा काल मसंस्कृताः।
सावित्रीपतिता व्रात्या भवन्त्यार्य विगर्हिताः॥३९॥
नैतैरपूतैर्विधिवदापद्यपि हि कर्हिचित्।
ब्राह्मान् यौनांश्च सम्बन्धानाचरेद्ब्राह्मणः सह॥४०॥

गर्भ * से आठवें वर्ष ब्राह्मण का उपनयन करे, गर्भ से ग्यारहवें वर्ष क्षत्रिय का और गर्भ से बारहवें वर्ष वैश्य का।३६। (यदि किसी विघ्न बाधा से इस मुख्य समय पर उपनयन न हो, तो) सोलह वर्ष तक ब्राह्मण के लिए बाईस तक क्षत्रिय के लिए और चौबीस तक वैश्य के लिए गायत्री के उपदेश का समय बना रहता है।।३८। इस से आगे ये तीनों, जिनके यथा समय संस्कार नहीं हुए, गायत्री से पतित हुए आर्यों से निन्दित व्रात्य (समुदाय से गिरे हुए) हो जाते हैं।३९। यदि ये यथा विधि (प्रायश्चित्त करके) शुद्ध न हों, तो इनके साथ कोई भी ब्राह्मण (क्षत्रिय और वैश्य) वेद वा विवाह का सम्बन्ध कभी न करे।४०।

ओंकार पूर्विकास्तिस्रो महाव्याहृतयोऽव्ययाः।
त्रिपदा चैव सावित्री विज्ञेयं ब्रह्मणो मुखम् (मनु२।८१)
उपनीय तु यः शिष्यं वेद मध्यापयेद् द्विजः।
सकल्पं सरहस्यं च तमाचार्यं प्रचक्षते।१४०।

---

* गृह्यसूत्रों में गर्भ से आठवें, ग्यारवें बारहवें वा जन्म से आठवें ग्यारहवें बारहवें दोनों पक्ष माने गए हैं॥

य आवृणोत्यवितथं ब्रह्मणा श्रवणावुभौ ।
स माता सपिता ज्ञेयस्तं न द्रुह्येत् कदाचन ॥१४४॥
अल्पं वा बहु वा यस्य श्रुतस्योपकरोति यः ।
तमपीह गुरुं विद्याच्छ्रुतोपक्रियया तया ॥१४९॥
ब्राह्मस्य जन्मनः कर्ता स्वधर्मस्य च शासिता ।
बालोऽपि विप्रो वृद्धस्य पिता भवति धर्मतः ॥१५०॥
अध्यापयामास पितॄन् शिशुराङ्गिरसः कविः ।
पुत्रका इति होवाच ज्ञानेन परिगृह्य तान् ॥१५१॥
ते तमर्थमपृच्छन्त देवानागतमन्यवः ।
देवाश्चैतान् समेत्योचुर्न्याय्यं वः शिशुरुक्तवान् ॥१५२॥
अज्ञो भवति वै बालः पिता भवति मन्त्रदः ।
अज्ञं हि बालमित्याहुः पितेत्येव तु मन्त्रदम् ॥१५३॥
न हायनैर्न पलितैर्न वित्तेन न बन्धुभिः ।
ऋषयश्चक्रिरे धर्मं योऽनूचानः स नो महान् ॥१५४॥
विप्राणां ज्ञानतो ज्यैष्ठ्यं क्षत्रियाणां तु वीर्यतः ।
वैश्यानां धान्यधनतः शूद्राणामेव जन्मतः ॥१५५॥
न तेन वृद्धो भवति येनास्य पलितं शिरः ।
यो वै युवाप्यधीयानस्तं देवाः स्थविरं विदुः ॥१५६॥

ओंकार पूर्वक तीन अविनाशी महाव्याहृतियें (भूः भुवः स्वः) और तीन पाद वाली गायत्री (तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गोदेवस्य धीमहि । धियो योनः प्रचोदयात्) यह ब्रह्म का मुख (वेद का आरम्भ, और ईश्वर प्राप्ति का द्वार) जानना चाहिये ॥८१॥ जो ब्राह्मण शिष्य का उपनयन करके उसको कल्प और रहस्य (कर्तव्य की विधि और उसके रहस्य तथा

उपासना और ज्ञान के रहस्य)समेत वेद पढ़ाता है उसको आचार्य कहते हैं॥१४०॥जो वेद से दोनों कान यथार्थ भरता है, शिष्य उसको सदा माता और पिता जाने, उससे कभी द्रोह न करे ॥ १४४ ॥ पढ़ाने में थोड़ा बहुत जो कुछ भी जो जिसका उपकार करता है, उसको भी उस उपकार के कारण गुरु जाने ॥१४९॥ ब्राह्मजन्म का देने वाला और स्वधर्म का सिखलाने वाला ब्राह्मण बालक भी वृद्धका भी धर्म से पिता है ॥१५०॥ अंगिरस के पुत्र कविने बालपन में अपने पितरों (चचों) को पढ़ाया, इस प्रकार ज्ञान से उन को नीचे करके 'हे पुत्रो' ऐसे कहा ॥१५१॥ उन को क्रोध आगया, तब उन्होंने देवताओं से यह बात पूछी, देवताओं ने इकट्ठे हो कर उन्हें कहा, बच्चे ने तुम्हें ठीक कहा है ॥१५२॥ (मन्त्रका) न जानने वाला निःसंदेह बालक होता है और मन्त्र का देने वाला पिता होता है, क्योंकि (ऋषि) बाल उस को कहते हैं जो अज्ञ है और पिता उसको कहते हैं, जो मन्त्र का देने वाला है ॥१५३॥ न वर्षों से, न श्वेतबालों से न धन से, न बन्धुओं से (बड़ा होता है), ऋषियों ने यह मर्यादा बना दी है, कि जो अंगों समेत वेद का जानने वाला है, वह हम में बड़ा है ॥१५४॥ ब्राह्मणों में बडप्पन ज्ञान से होता है, क्षत्रियों में वीरता से, वैश्यों में धन धान्यसे, जन्म से केवल शूद्रों में ॥१५५॥इस कारण से कोई वृद्ध नहीं माना जाता, कि उसका सिर श्वेत होगया है, जो युवा भी विद्वान् है, उसको देवता वृद्ध जानते हैं ॥१५६॥

सेवेतेमांस्तु नियमान् ब्रह्मचारी गुरौ वसन् ।
सन्नियम्येन्द्रियग्रामं तपो वृध्यर्थमात्मनः ॥ मनु० २ । १७५

वर्जयेन्मधुमांसं च गन्धं माल्यं रसान्स्त्रियः।
शुक्तानि यानि सर्वाणि प्राणिनां चैव हिंसनम् ॥१७७॥
द्यूतं च जनवादं च परिवादं तथाऽनृतम्।
स्त्रीणां च प्रेक्षणालम्भ मुपघातं परस्य च ॥१७९॥
एकः शयीत सर्वत्र न रेतः स्कन्दयेत् क्वचित्।
कामाद्धि स्कन्दयन् रेतो हिनस्ति व्रतमात्मनः ॥१८०॥
स्वप्ने सिक्त्वा ब्रह्मचारी द्विजः शुक्र मकामतः।
स्नात्वार्कमर्चयित्वा त्रिः पुनर्मामित्यृचं जपेत् ॥१८१॥

ब्रह्मचारी गुरु के निकट रहता हुआ तप की वृद्धि के लिए इन्द्रियों को वस में रख कर इन नियमों का सेवन करे ॥१७५॥ उसे त्यागदेना चाहिये मधु, मांस, गन्ध (इतर फुलेल) माला, रस (चसके वाले खान पान) स्त्रियें, खटाइयें और खट्टी हुई वस्तुएं, प्राणियों को सताना ॥१७७॥ जुआ, झगड़ा, चुगली, झूठ, स्त्रियों का देखना और स्पर्श करना (अर्थात् ऐसे मेलों पर जाना, जहां स्त्रियें बनठन कर जाती हैं) और किसी का काम बिगाड़ना ॥१७९॥ सदा अकेला सोवे वीर्य कहीं न गिराए जो इच्छा पूर्वक किसी तरह भी वीर्य गिराता है, वह अपने व्रत को तोड़ता है ॥१८०॥ ब्रह्म चारी द्विज का यदि अकस्मात् स्वप्न में भी वीर्य गिर जाए, तो (उस को प्रायश्चित्त करना चाहिये) वह स्नान कर, सूर्यका उपस्थान करके 'पुनर्मां' इस ऋचा को तीनवार जपे ॥१८१॥

चोदितो गुरुणा नित्यमप्रचोदित एव वा।
कुर्यादध्ययने यत्न माचार्यस्य हितेषु च ॥मनु० २।१९१॥

नीचं शय्यासनं चास्य सर्वदा गुरुसन्निधौ ।
गुरोस्तु चक्षुर्विषये न यथेष्टासनो भवेत् ॥१९८॥
नोदाहरेदस्य नाम परोक्षमपि केवलम् ।
न चैवास्यानुकुर्वीत गतिभाषितचेष्टितम् ॥ १९९ ॥
दूरस्थो नार्चयेदेनं न क्रुद्धो नान्तिके स्त्रियाः ।
यानासनस्थश्चैवैनमवरुह्याभि वादयेत् ॥२०२॥
विद्यागुरुष्वेतदेव नित्या वृत्तिः स्वयोनिषु ।
प्रतिषेधत्सु चाधर्माद्धितं चोपदिशत्स्वपि ॥२०६॥

गुरु से प्रेरा हुआ वा विन प्रेरे भी पढ़ने में और गुरुके हित कार्यों में सदा यत्नवान हो ॥१९१॥ गुरु के निकट इस की शय्या वा आसन सदा नीचा हो, और गुरु की दृष्टि के अन्दर बेपरवाही से न बैठे ॥१९८॥ पीठ पीछे भी गुरु का निरा (मान सूचक पदवी के विना) नाम न बोले, और न ही इसकी चाल, बोल वा अन्य किसी चेष्टा की नकल उतारे ॥१९९॥ दूर खड़ा रह कर गुरु को न पूजे, न जब स्वयं क्रोध युक्त हो, न (जब गुरु अपनी) स्त्री के निकट हो। और जब स्वयं आसन वा यान पर बैठा हो, तो उससे उतर कर गुरु को अभिवादन करे ॥२०२॥ जो किसी भी विद्या के गुरु हैं, उन सब में ऐसा ही वर्ते, तथा अपने ज्ञाति के वड़ों से, अधर्म से रोकने वालों और भले भले उपदेश देने वालों से भी ऐसा ही वर्ते ॥ २०६ ॥

यथा खनन् खनित्रेण नरो वार्यधिगच्छति ।
तथा गुरुगतां विद्यां शुश्रूषुरधिगच्छति ॥ २१८ ॥

मुण्डो वा जटिलो वा स्यादथवा स्याच्छिखाजटः ।
नैनं ग्रामेऽभि निम्लोचेत् सूर्यो नाभ्युदियात् क्वचित् ॥२१९॥

तं चेदभ्युदियात् सूर्यः शयानं कामचारतः ।
निम्लोचेद्वाप्यविज्ञानाज्जपन्नुपवसेद् दिनम् ॥२२०॥
सूर्येण ह्यभिनिर्मुक्तः शयानोऽभ्युदितश्च यः ।
प्रायश्चित्तमकुर्वाणो युक्तः स्यान्महतैनसा ॥२२१॥
आचम्य प्रयतो नित्यमुभे सन्ध्ये समाहितः ।
शुचौ देशे जपञ्जप्यमुपासीत यथा विधि ॥२२२॥
यदि स्त्री यद्यवरजः श्रेयः किञ्चित् समाचरेत् ।
तत् सर्वमाचरेद्युक्तो यत्र वाऽस्य रमेन्मनः ॥२२३॥
धर्मार्थावुच्यते श्रेयः कामार्थौ धर्म एव च ।
अर्थ एवेह वा श्रेयस्त्रिवर्ग इति तु स्थितिः ॥२२४॥

जैसे कुदाल से खोदता हुआ पुरुष (भूमि के अन्दर छिपे हुए) पानी को पालेता है, इसी प्रकार आज्ञाकारी जिज्ञासु गुरुगत विद्या को पालेता है ॥२१८॥ ब्रह्मचारी (सिर से) मुण्डित वा सारे बाल वा निरी शिखा जैसा चाहे रख सकता है, इसको सूर्य ग्राम में न कभी अस्त न उदय हो ॥२१९॥ यदि जान बूझ कर वा अज्ञान से (ग्राम में) सोए हुए को सूर्य उदय हो जाए, वा अस्त हो जाए, तो गायत्री का जप करता हुआ दिन भर उपवास करे (सायंकाल की भूल हो, तो दूसरे दिन करे) ॥ २२०॥ क्योंकि सूर्य जिसके सोते हुए अस्त वा उदय हुआ है, वह यदि प्रायश्चित्त नहीं करेगा, तो बड़े पापसे युक्त होगा (व्रत तभी दृढ़ रह सकता है, जब उस में भूल होने पर पश्चात्ताप और प्रायश्चित्त हो) ॥२२१॥ पवित्र हो एकाग्रचित्त हुआ

आचमन कर के यथा विधि जप करता हुआ नित्य प्रति दोनों सन्ध्याएं उपासे ॥२२२ यदि कोई स्त्री वा कोई छोटी जाति का पुरुष श्रेय (लोक वा परलोक के कल्याण का काम) करे, वह सब सावधान हो कर करे, वा जिस में इसका मन सन्तुष्ट हो ॥२२३॥ कई विद्वान् (परलोक और लोक के सुधारक होने से)धर्म और अर्थ (धर्म कार्य और लौकिक ऐश्वर्य) को श्रेय कहते हैं दूसरे-(परलोक पर दृढ़ विश्वास न रखने वाले) काम और अर्थ को, कई निरे धर्म को, कई निरे अर्थ को श्रेय कहते हैं । पर निश्चय यह है, कि तीनों का समुदाय मिल कर श्रेय है (धर्म अर्थ काम तीनों ही अपनी २ मर्यादा में सेवनीय हैं) ॥२२४॥

श्रद्दधानः शुभां विद्या माददीतावरादपि ।
अन्त्यादपि परं धर्मं स्त्रीरत्नं दुष्कुला दपि ॥२३८॥
विषादप्य मृतं ग्राह्यं बाला दपि सु भाषितम् ।
अमित्रादपि सद्वृत्त ममेध्यादपि काञ्चनम् ॥२३९॥
स्त्रियो रत्नान्यथो विद्या धर्मः शौचं सुभाषितम् ।
विविधानि च शिल्पानि समादेयानि सर्वतः ॥२४०॥
न पूर्वं गुरवे किञ्चिदुपकुर्वीत धर्मवित् ।
स्नास्यंस्तु गुरुणाऽऽज्ञप्तः शक्त्या गुर्वर्थ माहरेत् ॥२४५॥
क्षेत्रं हिरण्यं गामश्वं छत्रोपानहमासनम् ।
धान्यं शाकं च वासांसि गुरवे प्रीतिमा वहेत् ॥२४६॥

श्रद्धा युक्त हुआ शुभ विद्या को शूद्र से भी लेलेवे, उत्तम मर्यादा को चण्डाल से भी, और स्त्री रत्न को दुष्कुल से भी लेलेवे ॥ २३८ ॥ विष से भी अमृत लेलेना चाहिये, अच्छी सलाह बालक से भी, भला आचरण शत्रु से भी, और सोना अप

विद्यास्थान से भी लेलेना चाहिये ॥२३९॥ स्त्री रूपी रत्न, विद्या, धर्म (का ज्ञान), अच्छी सलाह और भांति २ के शिल्प (हुनर) सब से लेलेने चाहियें ॥२४०॥ मर्यादा का जानने वाला (शिष्य समावर्तन) से पहले गुरु को कुछ न देवे से आज्ञा दिया हुआ स्नान करने लगा यथाशक्ति गुरु के लिए अवश्य भेंट लावे ॥ २४५ ॥ (अर्थात्) खेत्र, सोना, गौ, घोड़ा, छाता, जूता, आसन, वस्त्र, अनाज, शाक (जो कुछ भी बने सरे) गुरु की प्रीति के लिए लावे ॥ २४६ ॥

इसी प्रकार इसी मर्यादा से सारी सन्तानों का पालन पोषण और शिक्षण किया जाना चाहिये ।

पारिवारिक एकता के लिए परमात्मा की आज्ञा ।

अथर्व ३ । ३०

स हृदयं सांमनस्य मविद्वेषं कृणोमि वः। अन्यो अन्यमभि हर्यत वत्सं जातमिवाघ्न्या ॥१॥

मैं तुम्हारे लिए समान हृदय समान मन होने की तथा द्वेषसे सर्वथा अलग रहने की मर्यादा बनाता हूं, तुम एक दूसरे को ऐसा प्यार करो, जैसे गौ अपने सजाए बछड़े को प्यार करती है।

अनुव्रतः पितुः पुत्रो मात्रा भवतु संमनाः। जाया पत्ये मधुमतीं वाचं वदतु शन्तिवाम् ॥२॥

पुत्र पिता का आज्ञाकारी हो, माता के साथ एक मन वाला हो, पत्नी अपने पति के लिए ऐसी वाणी बोले, जो शहद से भरी हुई (बड़ी मीठी) और हितसे पूर्ण हो ।

मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन् मा स्वसारमुत स्वसा।
सम्यञ्चः सव्रता भूत्वा वाचं वदत भद्रया ॥३॥

मत भाई भाई से द्वेष करे, मत बहिन बहिन से द्वेष करे, एक दूसरे के साथ संमत हो कर, एक दूसरे के काम में साथी बन कर कल्याणमयी वाक् से वचन बोलो।

येन देवा न वियन्ति नो च विद्विषते मिथः।
तत् कृण्मो ब्रह्म वो गृहे संज्ञानं पुरुषेभ्यः ॥४॥

जिस से देवता * आपस में अलग नहीं होते हैं, और न एक दूसरे से द्वेष करते हैं, वह ब्रह्म (वेद) तुम्हारे घर में स्थापन करता हूं, जो तुम्हारे सब पुरुषों के लिए समानमति उत्पन्न करने वाला है।

ज्यायस्वन्तश्चित्तिनो मा वियौष्ट संराधयन्तः सधुराश्चरन्तः। अन्यो अन्यस्मै वल्गु वदन्त एत सध्रीचीनान् वः संमनसस्कृणोमि ॥५॥

अपने २ से बड़ों के आज्ञाकारी, और उदार हृदय बनो, अलग २ न होजाओ, कार्यों को पूर्ण करते हुए (गृहाश्रम की गाड़ी को) इकट्ठे मिल कर खींचते हुए † एक दूसरे के लिए

* देवता ऋत्विज् जो यज्ञ में वेद मन्त्रों के उच्चारण और कर्म के अनुष्ठान में एक दूसरे का साथ देते हैं।

† 'सधुराश्चरन्तः' का अक्षरार्थ है समान धुरा वाले होकर चलते हुए अर्थात् एक जूए के नीचे सब मिल अपने २ कंधे देकर खींचते हुए।

सुन्दर प्रियवचन बोलते हुए मेरी ओर बढ़े आओ, मैं तुम्हें एक दूसरे का साथ देने वाले और समान् मन वाले बनने की आज्ञा देता हूं ॥

समानी प्रपा सह वो अन्नभागः समाने योक्त्रे सह वो युनज्मि । सम्यञ्चोऽग्निं सपर्यतारा नाभिमिवाभितः ॥६॥

तुम्हारे पानी का स्थान इकठ्ठा हो, तुम्हारे अन्न का भाग इकट्ठा हो, (प्रेम के साथ इकट्ठे पियो और खाओ) एक जुए में तुम को इकट्ठे जुड़ने की आज्ञा देता हूं, तुम सब मिल कर अग्नि का सेवन करो, * जैसे कि अरे (रथ की) नाभि के चारों ओर होते हैं ।

सध्रीचीनान् वः संमनसस्कृणोम्येक श्रुष्टी न्त्सं वननेन सर्वान् । देवा इवामृतं रक्षमाणाः सायं प्रातः सौमनसो वो अस्तु ॥ ७ ॥

मैं तुम सब को इकट्ठे मिलकर चलने वाले (मिल कर उद्योग करने वाले) समान मन वाले और हार्दिक प्रेम के साथ समान भागों वाले बनने की आज्ञा देता हूं, देवताओं की भांति अमृत (अमर जीवन) की रक्षा करते रहो, सांझ सवेरे तुम्हारा सौमनस्य (प्रीति भाव और शुभचिन्तन) बना रहे ।

धर्म शास्त्र के उपदेश

आचार्यश्च पिता चैव माता भ्राता च पूर्वजः ।
नार्तेनाप्यव मन्तव्या ब्राह्मणेन विशेषतः (मनु २ । २२६)

---

* सब मिल कर अग्नि होत्र करो । अथवा अग्नि (काम की शक्ति और प्रकाश) तुम्हारी गति का केन्द्र हो ।

यं मातापितरौ क्लेशं सहेते संभवे नृणाम् ।
न तस्य निष्कृतिः शक्या कर्तुं वर्ष शतैरपि ॥ २२७ ॥
तयोर्नित्यं प्रियं कुर्यादाचार्यस्य च सर्वदा ।
तेष्वेव त्रिषु तुष्टेषु तपः सर्वं समाप्यते ॥ २२८ ॥
सर्वे तस्या दृता धर्मा यस्यैते त्रय आदृताः ।
अनादृतास्तु यस्यैते सर्वास्तस्या फलाः क्रियाः ॥ २२९ ॥

स्वयं पीडित भी हो, तौ भी पुरुष अपने आचार्य पिता माता और बड़े भाई का कभी अपमान न करे, विशेषतः ब्राह्मण ॥ २२६ ॥ जो क्लेश माता पिता बच्चों की उत्पत्ति में सहते हैं, उसका पलटा सैंकड़ों वर्षों (कई जन्मों से) भी नहीं चुकाया जासकता है ॥२२७॥ इस लिए इन दोनों का और तीसरे आचार्य का सदा प्रिय करता रहे, इन तीनों की प्रसन्नता में सारा तप आजाता है ॥२२८॥ जिसने इन तीनों का आदर किया उस ने मानों सारे धर्मों का आदर किया और जिसने इनका अनादर किया, उसके सारे कर्म निष्फल जाते हैं॥२२९

ऋत्विक् पुरोहिताचार्यैर्मातुलातिथि संश्रितैः ।
बालवृद्धातुरैर्वैद्यैर्ज्ञाति सम्बन्धि बान्धवैः । मनु ४ । १७९
मातापितृभ्यां यामीभिर्भ्रात्रा पुत्रेण भार्यया ।
दुहित्रा दासवर्गेण विवादं न समाचरेत् ।१८०।
एतै र्विवादान् संत्यज्य सर्व पापैः प्रमुच्यते ।
एभिर्जितैश्च जयति सर्वाँल्लोकानिमान् गृही ।१८१।

ऋत्विक्, पुरोहित, आचार्य, मामा, अतिथि, और अपने आश्रितजन, बालक, बूढ़े, रोगी, वैद्य, ज्ञाति (शरीक) सम्बन्धि (रिश्तेदार कुटम, जामाता, साला आदि) और बान्धव

(मातृ पक्ष के लोग मामा आदि) ॥१७९॥ माता पिता स्त्रियें (बहिन स्नुषा आदि) भाई, पुत्र, पत्नी, कन्या और दास वर्ग इनके साथ झगड़ा न करे। १८० । जो इनके साथ झगड़ा छोड़ देता है, वह सब पापों से बच जाता है, और इनको अपने वश कर लेने से गृहस्थ इन सारे लोकों को जीत लेता है। १८१।

मातुलांश्च पितृव्यांश्च श्वशुरानृत्विजो गुरून्।
असा वह मिति ब्रूयात् प्रत्युत्थाय यवीयसः। मनु २।१३०।
मातृष्वसा मातुलानी श्वश्रूरथ पितृष्वसा।
संपूज्या गुरु पत्नीवत् समास्ता गुरु भार्यया। १३१।
भ्रातुर्भार्योपसंग्राह्या सवर्णाऽहन्यहन्यपि।
विप्रोष्य तूपसंग्राह्या ज्ञाति सम्बन्धि योषितः।१३२।
पितुर्भगिन्यां मातुश्चज्यायस्यां च स्वसर्यपि।
मातृवद् वृत्ति मातिष्ठेन्माता ताभ्यो गरीयसी। १३३।

मामे, चाचे, ऋत्विज् और गुरु अपने से छोटे भी हों, तो भी उठकर आदर दे और अपना नाम लेकर प्रणाम करे।१३०। मासी, मामी, सास, और फूफी, यह गुरुपत्नी के तुल्य पूजा (प्रणाम) के योग्य होती हैं, क्योंकि यह गुरुपत्नी के तुल्य हैं। १३१। बड़े भाई की पत्नी जो अपने वर्ण की है, उसके प्रतिदिन पैर छुए, पर ज्ञाति और सम्बन्धियों की स्त्रियों के परदेश से आकर। १३२। फूफी, मासी और अपनी बड़ी बहिन से मातृतुल्य वर्ताव करे, पर माता उनसे बढ़कर पूजनीय है।

उपाध्यायान् दशाचार्य आचार्याणां शतं पिता।
सहस्रं तु पितॄन् माता गौरवेणातिरिच्यते। मनु २। १४५।

आचार्य उपाध्याय से दस गुणा, पिता आचार्य से सौ

गुणा और माता पिता से हजार गुणा बढ़कर पूजा के योग्य होती है।

निरतिशयं गरिमाणं तेन जनन्या वदन्ति विद्वांसः।
यत् कमपि वहति गर्भं महतामपि यो गुरुर्भवति॥

पण्डितजन सबसे बढ़कर माता की गुराई इसलिए कहते हैं, क्योंकि ऐसे बच्चे को वही कुक्षि में धारती है, जो बड़ों का भी गुरु होता है।

आर्य गृह

गोभिलादि सूत्रों में आया है जहां घर बनाना है, वह भूमि सम हो, उर्वरा हो (कालरी न हो), जहां दूधवाली, कांटों वाली और कड़वी ओषधियें बहुतायत के साथ न उगती हों। भूमि दृढ़ हो, एक रंग की हो, बंजरों से वा मरुस्थलों से घिरी हुई न हो, और सज्जल न हो। जो ब्रह्मवर्चस चाहता है, उसके लिए दर्भ उत्पन्न करनेवाली भूमि में, और जो क्षात्र बल चाहता है, उसके लिए बेरण घास के उत्पन्न करने वाली भूमि में घर बनाए। घर की कुर्सी आस पास की भूमि से ऊंची हो, और पानी घर के आस पास कहीं ठहरने न पाए। घर चतुष्कोण वा गोलाकार हो। द्वार आमने सामने हों। मध्य में अंगन (छत से खाली स्थान) हो। हर एक घर में प्रकाश और वायु सब ओर से पहुंच सके। घर बड़ी खुली भूमि में होना चाहिए, और उसके साथ एक गृहाराम (घर का बागीचा) हो।

इहैव ध्रुवां निमिनोमि शालां क्षेमे तिष्ठाति घृत

मुक्षमाणा। तां त्वां शाले सर्व वीराः सुवीरा अरिष्ट-वीरा उपसंचरेम ।१। (अथर्व १० । १२)

यहां पर मैं एक पक्की शाला की नीव डालता हूं, यह घृत को सींचती हुई सदा सुरक्षित खड़ी रहे, हे शाले ! तेरे अन्दर हम अपने समस्त वीरों (वीर पुत्रों), धर्मी वीरों, अक्षत वीरों समेत आनन्द से विचरते रहें ॥

'घृत को सींचती हुई' घी को पानी की तरह छिड़कती हुई अर्थात् जिस में घी खुले दिल पानी की तरह वर्ता जाए।

इहैव ध्रुवा प्रतितिष्ठ शालेऽश्वावती गोमती सूनृतावती। ऊर्जस्वती घृतवती पयस्वत्युच्छ्रयस्व महते सौभगाय ॥२॥

यहां दृढ होकर अपनी नीव जमा—हे शाले ! और गौ, घोड़े, मीठी वाणियें, अन्न, दूध, घी से मालामाल हुई तू बड़े सौभाग्य के लिए ऊंची हो ॥

धरुण्यसि शाले बृहच्छन्दाः पूतिधान्या। आत्वा वत्सोगमेदा कुमार आधेनवःसायमा स्यन्दमानाः ॥३॥

हे शाले ! तू एक विशाल छत वाला भंडार है; जिसमें शुद्ध अनाज हो, सायं-काल के समय तेरी ओर बछड़े, उमड़े हुए चले आवें, छोटे बच्चे उमड़े हुए चले आवें, और धेनुएं उमड़ी हुई चली आवें।

इत्यादि मन्त्रों में आर्य गृही का गृह जैसा होना चाहिये, वह बड़ा स्पष्ट बतला दिया है।

नए घर में प्रवेश के समय गृहपति यह मन्त्र पढ़ता हुआ प्रवेश करता है—

ऋतंप्रपद्ये शिवंप्रपद्ये—मैं ऋत की शरण लेता हूं कल्याण की शरण लेता हूं।

ऋत, सचाई, वे नियम, जिन पर चलने से मनुष्य सब प्रकार की हानियों से बचकर उत्तरोत्तर उन्नत होता चला जाता है। इन नियमों पर चलने से ही घर में कल्याण आता और बना रहता है, इसलिए 'ऋतं प्रपद्ये' के आगे 'शिवं प्रपद्ये' कहा है। घर में प्रवेश कराते समय ब्रह्मा गृहपति से मानों यह वचन लेलेता था, कि वह सावधानता से ऋत को जानेगा, और उस पर चलेगा। घर में प्रवेश करके आज्य का होम करता हुआ वह इन मन्त्रों से वास्तोष्पति की आराधना करता है—वास्तोष्पति=घर का मालिक। इस नाम से परमेश्वर की आराधना करने से गृहस्थ अपने घर का अधिष्ठाता परमेश्वर को बनाकर प्रार्थना करता है, कि वे इस घर में सदा हमारे अंग संग रहते हुए हमारी रक्षा और वृद्धि करें—

वास्तोष्पते प्रतिजानीह्यस्मान् स्वावेशो अनमीवो भवा नः। यत् त्वेमहे प्रति तन्नो जुषस्व शंनो भव द्विपदे शं चतुष्पदे ॥१॥ (ऋग्०७।५४)

हे वास्तोष्पते! हमें स्वीकार कर (अपना बना ले) (इस घर में) हमारे प्रवेश को शुभ बना, हमें रोगों से परे रखो, वह हर एक वस्तु हमें प्रीति से दो, जो २ तुझ से मांगते हैं, हमारे मनुष्य और पशुओं पर सदा दयालु रहो।

वास्तोष्पते प्रतरणो न एधि गयस्फानो गोभिरश्वेभिरिन्दो। अजरासस्ते सख्ये स्याम पितेव पुत्रान् प्रति नो जुषस्व ॥२॥

हे वास्तोष्पते! तू हमारा संवर्धक हो, हे ऐश्वर्य के मालिक गौओं और घोड़ों से हमारे प्राणों का बढ़ाने वाला हो। हम तेरी मैत्री में कभी बूढ़े न हों (तेरी मैत्री हमारे साथ कभी पुरानी न हो, सदा नयी बनी रहे) पिता बनकर हम पुत्रों से प्यार कर।

वास्तोष्पते शग्मया संसदा ते सक्षीमहि रण्वया गातुमत्या। पाहि क्षेम उतयोगे वरं नो यूयंपात स्वस्तिभिः सदानः ॥३॥

हे वास्तोष्पते! तेरी संगति जो कल्याणमयी, सुहावनी और सीधे मार्ग पर चलाने वाली है, उससे हम सदा संगत रहें, सदा हमारी भली भांति रक्षा कर जब हम काम करते हैं वा आराम करते हैं। हे देवताओ सब प्रकार के कल्याणों (वरकतों) से सदा हमारी रक्षा करो॥

अपने घर में परमात्मा को घर का स्वामी, सारे परिवार का पिता, जान इस प्रकार परमात्मा की आराधना करो, जैसा कि पुत्र साक्षात् पिता की करते हैं, यह प्रार्थना केवल प्रवेश समय में ही नहीं, अन्यदा भी यह सम्बन्ध परमात्मा से बनाए रक्खो। इस प्रकार अपनी सावधानी और परमात्मा की सहायता से तुम्हारे घर सुख के धाम बनेंगे।

सामाजिक जीवन।

अब हम संक्षेपतः इस बात का वर्णन करेंगे, कि प्राचीन काल में आर्य जाति का सामाजिक जीवन कैसा था।

समाज की आवश्यकताएं

समाज की उन्नति के लिए यह आवश्यक है, कि उस में कार्यों का विभाग हो। हरएक पुरुष हरएक काम को न करे किन्तु जो जिस काम के योग्य हो, वही उस काम को करे। यदि पुरुष अपने लिए आपही घर बनाए, आपही कपड़ा बुने और आप ही तलवार बनाए, और बनाए ही अपने ही लिए चाहे आयु भर में एक ही बार आवश्यकता पड़े, तो ये तीनों ही काम अत्यन्त भद्दे होंगे, और वंश परम्परा में भी कभी न सुधरेंगे। पर यदि कोई मनुष्य घर बनाने का काम संभालले कोई कपड़ा बुनने का और कोई तलवार बनाने का, और जो जिस काम में लगे, उसी में उन्नति करे, तभी हरएक कार्य में उत्तरोत्तर उन्नति होती है। और हरएक सामाजिक पुरुष उस उन्नति से लाभ उठाता है।

दूसरा यह, कि वे कार्य समाज की सुख और शान्ति के बढ़ाने वाले हों, न कि दुःख और अशान्ति के, जो दुःख और अशान्ति के बढ़ाने वाले हों, उनकी पूरी २ रोक होनी चाहिये।

तीसरा यह, कि सामाजिक आचार व्यवहार सब न्याय-युक्त हों, जिस में सब की मानमर्यादा और सब के स्वत्वों पर पूरा ध्यान हो।

चौथा यह, कि न्याय्य स्वतन्त्रता में किसी के लिए कोई रुकावट न हो।

पांचवां यह, कि मर्यादा और न्याय पर चलाने का पूरा प्रबन्ध हो।

कार्य विभाग !

(खेती व्यापार और पशुपालन)

मानव समाज में सभ्यता का सब से पहला काम खेती है, और यह ऐसा प्रधान काम है, जिस की आवश्यकता मनुष्य को सदा रही है, और सदा रहेगी, क्योंकि जीवन की स्थिति सब की इस के सहारे पर है, और यह एक मनुष्य की शुद्ध जीविकाओं में से है। क्योंकि यदि मनुष्यों में से कोई भी किसी के स्वत्व को न दबाए, मानों सारे सत्ययुग वर्त जाए, तो पुलीस, सेना और न्यायालय एक दम अनावश्यक होजाएं, पर खेती तब भी आवश्यक रहे। कृषक यदि स्वयं पाप न करें, तो इस काम का सम्बन्ध कोई भी पाप के साथ नहीं है, अत एव यह एक पूरी शुद्ध जीविका है। सो इस शुद्ध जीविका के लिए वेद का उपदेश इस प्रकार है।

क्षेत्रस्य पतिना वयं हितेनेव जयामसि ।
गामश्वं पोषयित्न्वा सनो मृडातीदृशे ॥१॥
(ऋग् ४।५७)

हम अपने सखा के सदृश (साथ देने वाले) क्षेत्रपति (की सहायता) से गौ घोड़ा और पुष्टिकारक वस्तुओं को जीतते हैं, वह देव ऐसे काम में हमारे ऊपर दया करता है।

यहां कृषिकर्म में परमात्मा को क्षेत्रपति (क्षेत्र का स्वामी) करके पुकारा है। जैसे गृहस्थ घर में घर का मुख्य स्वामी

परमात्मा का मान, उसे वास्तोष्पति (घर का स्वामी) नाम से पुकारता है, वैसे कृषक क्षेत्र में क्षेत्र का मुख्य स्वामी परमात्मा को मान, उसे क्षेत्रपति नाम से पुकारता है । और क्षेत्रपति जो उसके परिश्रम में सदा सहायक होता है, उसको अपना मित्रवत् जान, उसकी सहायता का पूरा भरोसा रखता है । गौ घोड़े और सब प्रकार के पुष्टिकारक अनाज खेती का फल हैं । 'जीतते हैं' का तात्पर्य है, अपनी कमाई से कमाकर प्राप्त करते हैं । जो दूसरे के सहारे पर नहीं, किन्तु अपनी कमाई से कमाया है, वही धन प्रशंसनीय है ।

'ऐसे काम में परमात्मा दया करता है' । एक २ दाने के जो सौ सौ और सहस्र २ दाने होजाते हैं, यह परमेश्वर की दया है । मनुष्य का धर्म न्याय्यमार्ग से परिश्रम करना है, फल लगाना परमात्मा का काम है । इसी लिए कहा है—

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ।

क्षेत्रस्य पते मधुमन्तमूर्मिं धेनुरिव पयो अस्मासु धुक्ष्व ।
मधुश्चुतं घृतमिव सुपूत मृतस्य नः पतयो मृळयन्तु ।२।

हे क्षेत्र के स्वामिन् ! जैसे धेनु दूध दुहाती है, वैसे तुम शहद से भरी हुई पानी की लहर (आकाश से) हमारे अन्दर दुहादो, जो शहद टपकाते हुए पुने हुए घृत की नांई पूरी शुद्ध हो, जल के पति (जल बरसाने वाली दिव्य शक्तियें) हमारे अनुकूल हों ।

मधु लोक में औषधियों के सार (शहद) का नाम है । मधु मनुष्य की आयु, बल और बुद्धि का वर्धक है । सो वेद में मधु शब्द हर एक वस्तु में होने वाले उस सार अंश का बोधक है, जिससे आयु बल और बुद्धि बढ़ते हैं ।

मधुमती रोषधीर्द्याव आपो मधुमन्नो भवत्वन्त-
रिक्षम् । क्षेत्रस्य पतिर्मधुमान् नो अस्त्वरिष्यन्तो
अन्वेनं चरेम ॥३॥

ओषधियें हमारे लिए मधुमती हों, तीनों द्यौ, जल तथा अन्तरिक्ष हमारे लिए मधु से भरे हों। क्षेत्र का पति हमारे लिए मधुमान् हों, और हम किसी प्रकार की कोई हानि न उठाते हुए इसकी (क्षेत्रपति की) आज्ञा पर चलते रहें।

इससे बोधन किया है, कि अनाज उत्तम श्रेणि का (मधु से भरा हुआ) उत्पन्न करो, और अनाज तथा दूसरी ईश्वरीयदात का उपभोग करते हुए दाता की आज्ञा पर चलते रहो।

शुनं वाहाः शुनं नरः शुनं कृषतु लाङ्गलम् ।
शुनं वरत्रा बध्यन्तां शुनमष्ट्रा मुदिंगय ॥४॥

वगने वाले पशु (बैल, घोड़ा, ऊंट) आनन्द से काम करें, मनुष्य आनन्द से काम करें, जोत आनन्द से बांधे जाएं, छांटे को आनन्द से प्रेरो।

इस मन्त्र में उस उन्नति का बीज है जिस से बिना मारो मार करने के किसान सुख पूर्वक बहुत बड़ी उपज के स्वामी बनें। आजकल पशुओं को मार २ कर भी और स्वयं भी मारो मार करते हुए भी यहां के किसान जो दरिद्र ही रहते हैं, यह अवश्यमेव किसी बड़ी भारी त्रुटि का फल है।

शुनासीराविमां वाचं जुषेथां यद्दिवि चक्रथुः पयः।
तेनेमा मुपसिञ्चतम् ॥५॥

हे शुन हे सीर* मेरे इस वचन को स्वीकार करो, जो जल द्यौ में तुम दोनों ने तय्यार किया है, उससे इस भूमि को सेचन करो ॥

अर्वाची सुभगे भव सीते वन्दामहे त्वा ।
यथा नः सुभगाऽससि यथा नः सुफलाऽससि ॥६॥

हे सौभाग्यवाली सीता आगे बढ, हम तेरी स्तुति करते हैं, जिससे कि तू हमारे लिए सौभाग्यवाली हो, हमारे लिए अच्छे फलों वाली हो ।

सीता हल की लकीर का नाम है । सीता द्वारा मट्टी का नीचे ऊपर परिवर्तन होजाने और घासादि के मारे जाने से खेती सुहावनी और अच्छे फलों वाली होती है । और कई बीज सीता में बोने से ही उत्तम होते हैं ।

इन्द्रः सीतां निगृह्णातु तां पूषा नु यच्छतु ।
सा नः पयस्वती दुहामुत्तरामुत्तरां समाम् ॥७॥

इन्द्र सीता को स्वीकार करे, पूषा उसको लगातार (पुष्टि) दे, वह शक्ति से पूर्ण हुई प्रति वर्ष हमारे लिए (अनाज) दुहाती रहे । भूमि की उत्पादन शक्ति कभी न्यून न हो, किन्तु भूमि रूपी गो प्रति वर्ष अनाज रूपी दूध से घरों को भरती रहे, इसके

---

* शुन और सीर वृष्टि के कारणीभूत दो देवताविशेष हैं, क्या हैं यह चिन्तनीय है । यास्क के अनुसार शुन वायु और सीर आदित्य है । सीर हल का नाम है, इसके सम्बन्ध से शुन फाले का नाम लेकर फाला और हल भी कइयों ने समझा है । पर उनका कर्म जो यहां बतलाया है 'यद् दिवि चक्रथुः पयः' इससे वे दोनों द्यौ के देवता होने चाहिए । इन दोनों देवताओं का सम्बन्ध खेती से ही आता है ।

लिए कृषक को सयत्न रहना चाहिए। सीता और खाद्य उस शक्ति को सदा बनाए रखते हैं, अन्यथा शक्ति घटती जाती है।

शुनं फाला विकृषन्तु भूमिं शुनं कीनाशा अभियन्तु वाहैः। शुनं पर्जन्यो मधुना पयोभिः शुनासीरा शुनमस्मासु धत्तम् ॥८॥

हमारे फाले भूमि को आनन्द से नीचे ऊपर करें, किसान हल खींचने वालों (बैलों, घोड़ों वा ऊंटों) के पीछे आनन्द से चलें, मेघ मधुमय (मीठे आरोग्य और पुष्टि कारक) जलों से (भूमि को सींचें) हे शुन हे सीर हम में सुख सौभाग्य स्थापन करो।

यहां सारे वाक्यों में 'शुनं' पद देने से बोधन किया है। कि हल फाले आदि ऐसे बनाओ जो भूमिको आसानी से उथल पुथल करें। तथा पशु और मनुष्य ऐसे हृष्टपुष्ट और सहिष्णु हों, जो काम में आनन्द अनुभव करें। और काम भी आनन्द दायक ही हों।

खेती को उत्तमता से करने के लिए इस प्रकार उपदेश दिया है—

युनक्त सीरा वियुगा तनुध्वं कृते योनौ वपतेह बीजम्। गिरा च श्रुष्टिः सभरा असन्नो नेदीय इत् सृण्यः पक्वमेयात् (ऋ१०।१०१।३, यजु १२।६८)

हल जोतो, जुए फैलाओ, (लम्बे चौड़े खेत तय्यार करो) और इस तय्यार किए हुए खेत में बीज बोओ, (वेद) वाक्य के अनुसार हमारा अन्न पुष्ट हो, और दरांति पके हुए के निकट पहुंचे ॥

सीरा युञ्जन्ति कवयो युगा वितन्वते पृथक् ।
धीरा देवेषु सुम्नया ॥ (ऋ० १०।१०१।४ यजु० १२। ६७)

देवताओं में कल्याण की कामना से विद्यावान् जन हल जोतते हैं, और अलग २ जुए फैलाते हैं ।

विद्यावान् के लिए खेती का उपदेश करने से किसान के लिए विद्वान् होना आवश्यक गुण बतलाया है । विद्यावान् ही खेती की उन्नति कर सकता है । आज कल जो यूरुप और अमेरिका में खेती की उन्नति होरही है, उससे वे देश हमारे देश से कई गुणा बढ कर लाभ उठा रहे हैं, यह सब विद्या का ही फल है ।

घृतेन सीता मधुना समज्यतां विश्वैर्देवैरनुमता मरुद्भिः । ऊर्जस्वती पयसा पिन्वमानाऽस्मान् सीते पयसाऽभ्याववृत्स्व ॥ (यजु ११ । ७०)

सूर्य की किरणों और मरुतों की अनुकूलता पाकर सीता मधुमय जल से सिंचत हो, हे सीते ! तू पराक्रम वाली हुई दूध (उत्तम जल) से तृप्त होती हुई दूध के साथ हमारी ओर बार २ लौट॥ सभी पौदे खुले प्रकाशमें अच्छे बढते और फलते फूलते हैं इसलिए खेतियां वनस्पतियों से ढके हुए स्थलों में नहीं होनी चाहियें । मरुत्=मानसून वायु । उनके भी अनुकूल होने अर्थात् अतिदृष्टि और अनावृष्टि दोषों के न होने से ही खेती को पूरा लाभ पहुंचता है । इससे यह भी दर्शाया है कि लौकिक वा दिव्य (वैदिक यज्ञ) उपायों द्वारा सूर्य की किरणों और मरुतों को अनुकूल बनाना चाहिए ।

'पराक्रमवाली' हल द्वारा नीचे ऊपर उथल पुथल करने और खाद देने से सीता पराक्रमवती होती है।

'दूध के साथ हमारी ओर वार २ लौट', यहां सीता को रूपक से धेनुरूप वर्णन किया है, जैसे हमारी धेनु प्रतिदिन नया २ दूध लेकर हमारी ओर लौटती है, वैसे धेनु बन कर हे सीते दूध के साथ हमारी ओर लौट, अर्थात् दूध से भरे हवाने की तरह अनाज से भरजा, और तेरा अनाज दूध तुल्य(उत्तम) हो। वार २ लौटें, इससे खादादि से बलिष्ठ करके, रासायनिक प्रयोगों द्वारा वर्ष में एक ही खेत में अनेक खेतियां उत्पन्न करने की प्रेरणा की है।

लांगलपवीरवत् सुशेवᳲ सोमपित्सरु। तदुद्वपति गामवं प्रफर्व्यं च पीवरीं प्रस्थावद्र रथवाहणम् ॥७॥

तीव्रफालेवाला हल, हर एक के लिए उत्तम फल देने वाला है,सोम पीने वाले के लिए तो ढाल काम का देता है,वह (फाला) हरएक के लिए गौ, भेड़, रथ को खींचनेवाले तेज घोड़े और हृष्ट पुष्ट तथा दृढशरीर वाली स्त्री को उपजाता है*

'सोमपीनेवाले के लिए तो ढाल है' सोम पीने का उसको अधिकार है, जिस के घर अन्न की वहुतायत हो।

इस प्रकार आदि से ही आर्यजाति में कृषिकर्म को प्रशस्त माना गया है।

---

* खेती करने वालों के घरों में गौएं और घोड़े होते हैं, और उन की स्त्रियें शरीर से हृष्ट पुष्ट और दृढिष्ठ होती हैं, अतएव उन के घरों में वीर पुत्र उत्पन्न होते हैं।

खेतों की सिञ्चाई

खेती के लिए यह उत्तम है कि समय पर मेघ बरसता रहे, पर ऐसा सर्वदा नहीं होता रहता, सो जहां किसानों की केवल वृष्टि पर ही दृष्टि होगी, वहां अवश्य अकाल पीडा भी होगी, उस से बचने के लिए वेद मनुष्य को भूमि के नीचे और ऊपर बहते जलों को भी उपयोग में लाने का उपदेश देता है। नीचे के पानियों को कुओं से, और ऊपर के पानियों को नालियों और नहरों से काम में लाना चाहिये ॥

निरा हावान् कृणोतन संवरत्रा दधातन।
सिञ्चामहा अवत मुद्रिणं वयं सुषेकमनुपक्षितम् ॥

(ऋग् १० । १०१।५)

(पशुओं के पानी पीने के लिए) चाहबच्चे तय्यार करो, माहल डालो जिससे हम गहरे, कभी न सूखने वाले, आसानी से सिञ्चाई करने वाले कुँए से जल निकालें।

इष्कृताहावमवतं सुवरत्रं सुषेचनम्। उद्रिणं सिञ्चे अक्षितम् ॥६॥

मैं उस कुँएं से सिञ्चाई करूं, जिसकी माहल बडी दृढ है, जिससे सिञ्चाई आसानी से होती है, जो बड़ा गहरा है, और सूखने वाला नहीं है।

स यव्ह्योवनीर्गोष्वर्वा जुहोति प्रधन्यासु सस्रिः।
अपादो यत्र युज्यासोऽरथा द्रोण्यश्वास ईरते घृतं वाः ॥

(ऋ १० । ९९ । ४)

वह बलवान् कर्मशील (इन्द्र) उत्तम धन देने वाली उन भूमियों में बड़ी २ नदियों को ला होमता है, जहां उन नदियों की सहेलियें (नहरें) जो न पैर रखती हैं, न रथों पर सवार होती हैं तथापि बड़ी तेज दौड़ती हुई ऐसे पानी के प्रवाह को (उन भूमियों में) धकेलती हैं, जो उनके लिए मानों घृत है । (घृत जैसे मनुष्यों को वैसे वह खेतियों को कान्ति और पुष्टि देता है)।

जो राजा वा मनुष्यसमुदाय बड़ी २ नदियों को नहरों के द्वारा खेतों में ला डालता है, वह उस धन को बहुत बढ़ा लेता है, जो उसे भूमि से प्रतिवर्ष अन्न के रूप में मिलता है। नदियें निकट की भूमियों को उपजाऊ बनाती हैं, पर नहरों के द्वारा बड़ी २ दूर की भूमियों को जा उपजाऊ बनाती हैं।

नदियें इन्द्र की प्रेरणा (नियम) में चलती हैं, इस लिए नदियों का नहरों द्वारा दूर की भूमियों में पहुंच कर उनको अधिक उपजाऊ बनाना भी इन्द्र की प्रेरणा से होता है, सो नदियों की यह महिमा भी इन्द्र की महिमा है। अथवा इन्द्र से यहां राजा अभिप्रेत है।

इस प्रकार, कृषिकर्म जो मानवसमाज में जीविका का प्रथम उपाय है, वेद में उस की प्रशंसा की गई है, और उसकी उन्नति की ओर प्रेरणा की गई है। दूसरा समाज के लिए उपयोगी काम है

वाणिज्य व्यापार

अथर्ववेद में एक सूक्त में व्यापारियों की प्रार्थना द्वारा इस कर्म की उत्तमता इस प्रकार दिखाई है—

इन्द्रमहं वणिजं चोदयामि स न ऐतु पुर एता

नो अस्तु । नुदन्नरातिं परिपन्थिनं मृगं स ईशानो धनदा अस्तु मह्यम् ॥ १ ॥ (अथर्व० ३।१५)

मैं वणिक् इन्द्र * को प्रेरता हूं, वह हमारे साथ हो और हमारा नेता बने, वह जो सब पर ईशन करने वाला है, वह हमारे मार्ग से विरोधियों लुटेरों और हिंस्रपशुओं को दूर हटाता हुआ हमारे लिए धनदाता हो।

"वह हमारा नेता हो" ईश्वर को जब अपना नेता बना लिया, तो फिर व्यवहार में छल कपट की कोई सम्भावना ही नहीं रहती, और छल कपट को त्यागकर सरलता से किये व्यवहार ही समृद्ध होते हैं, और उन से हृदय महान् होता है॥

'धनदाता हो' छल कपट से धन इकट्ठा करने का विचार मन में न लाए, किन्तु योग्यतापूर्वक शुद्ध व्यवहार करे, और फल का भरोसा परमात्मा पर रक्खे।

ये पन्थानो बहवो देवयाना अन्तरा द्यावा पृथिवी संचरन्ति । ते मा जुषन्तां पयसा घृतेन यथा क्रीत्वा धन माहराणि ॥२॥

वे बहुत से मार्ग, जिन से देवता आते जाते हैं, जो द्यौ और पृथिवी के मध्य में चलते हैं †, वे दूध और घी के साथ

---

* इन्द्र वणिक् इसलिए है, कि हम से की स्तुतियों और प्रार्थनाओं और दी आहुतियों को कामना करता, सुनता और स्वीकार करता है, और तदनुसार फल देता है।

† जलयान, थलयान और व्योमयान॥

मेश सेवन करें * जिस से कि मैं विनिमय (वस्तुओं के साथ अदलें बदल कर के) धन लाऊं ॥ २ ॥

इध्मेनाग्न इच्छमानो घृतेन जुहोमि हव्यं तरसे बलाय । यावदीशे ब्रह्मणा वन्दमान इमां धियं शतसेयाय देवीम् †॥३॥

हे अग्ने (धन की) कामना करता हुआ मैं विजय के लिए और बल के लिए समिधा और घी के साथ हव्य को अर्पण करता हूं, और जितनी कर सकता हूं, उतना मन्त्र द्वारा तेरी वन्दना करता हुआ मैं सैंकड़ों धनों की प्राप्ति के लिए इस दिव्य बुद्धि को तेरे अर्पण करता हूं ‡ ।

इमामग्ने शरणिं मीमृषो नो यमध्वानमगाम दूरम् । शुनं नो अस्तु प्रपणो विक्रयश्च प्रतिपणः फलिनं मा कृणोतु। इदं हव्यं सं विदानो जुषेथां शुनं नो अस्तु चरितं मुत्थितं च ॥४॥

---

* अर्थात् सर्वत्र हमें दूध घी आदि उत्तम २ पदार्थ मिलें, जिससे स्वस्थ रहकर उत्साह से परिपूर्ण होकर हम व्यापार को बढ़ाएं, और बहुत बड़ा धन कमाकर लावें ॥

† ऋग्वेद ३ । १८ । ३ ॥

‡ विजय के लिए अपनी कमाई का धन पाने के लिए । बल के लिए लिए, कमाने के समर्थ स्वास्थ्य बुद्धि और स्फूर्ति आदि बल के लिए, मैं श्रद्धा से अग्नि में होम करता हूं। और मन्त्रों से शक्ति भर स्तुति करता हूं फलदाता मुझे कमाने के योग्य बल दे, और सैंकड़ों धन दे ॥

हे अग्ने हमारी भूल को मेट दे, चाहे हम लम्बा मार्ग भी लंघ चुके हों, हमारा क्रय और हमारा विक्रय हमारे लिए लाभ दायक हो, प्रति व्यवहार (वस्तुओं के ले आने और ले जाने का व्यवहार) मुझे फलवान् बनाए। (हे इन्द्र हे अग्नि) तुम दोनों एकमत होकर मेरे इस हव्य को स्वीकार करो। जिससे हमारा घूमना और बडे २ कर्मों में हाथ डालना लाभदायक हो *

येन धनेन प्रपणं चरामि धनेन देवा धनमिच्छमानः। तन्मे भूयो भवतु मा कनीयोऽग्ने सातघ्नो देवान् हविषा निषेध ॥५॥

हे देवताओ! धन के द्वारा धन (की वृद्धि) चाहता हुआ मैं जिस धन से व्यापार चलाता हूं, वह मेरा बढता चला जाए, मत कभी घटे, हे अग्ने! लाभ के नाशक देवताओं को हवि से परे हटा† ५।

येन धनेन प्रपणं चरामि धनेन देवा धनमिच्छमानः। तस्मिन् म इन्द्रो रुचिमादधातु प्रजापतिः सविता सोमो अग्निः ॥६॥

---

* अथवा (चरित) हमारा बर्ताव और (उत्थितं) उद्यम लाभ दायक हो।

† 'हवि से परे हटा' हमारी दी हुई हवि को व्यापार में हानि पहुंचाने वाली प्रकृति का नाशक बना। अपनी अपने साथियों और उस व्यापार से सम्बन्ध रखने वाले जिन लोगों की प्रकृति हमारे लाभ का नाश कर देती है, उस प्रकृति को बदल कर व्यापार के योग्य बना दे। यहां देवता मनुष्यों की प्रकृतियों को कहा है।

हे देवताओ! धन के द्वारा धन की वृद्धि चाहता हुआ मैं जिस धन से व्यापार चलाता हूं। उसमें इन्द्र प्रजापति सविता सोम और अग्नि मुझे रुचि * देवें।

उपत्वा नमसा वयं होतर्वैश्वानर स्तुमः। स नः प्रजास्वात्मसु गोषु प्राणेषु जागृहि ॥७॥

हे वैश्वानर (सब मनुष्यों के प्यारे वा सब मनुष्यों का भला चाहने वाले) होतः! हम विनयपूर्वक तेरी स्तुति करते हैं, तुम हमारी सन्तान पर, हमारे आत्माओं पर, हमारे पशुओं पर और हमारे जीवनों पर अपनी दृष्टि रक्खो।

विश्वाहा ते सदमिद्भरेमाश्वायेव तिष्ठते जातवेदः। रायस्पोषेण समिषा मदन्तो मा ते अग्ने प्रतिवेशा रिषाम ॥८॥

हे जातवेदः! (अग्ने) सदा नित्य २ तेरे लिए हम हवि लावें, जैसे खडे हुए (अश्वशाला में बंधे हुए) घोड़े के लिए (घास लाते हैं), धन की वृद्धि और अन्न के साथ हम मिलकर आनन्द भोगते हुए, हम जो तेरे सेवक हैं हे अग्ने कभी हानि न उठाएं॥

ऊपर जहां सावधानता से व्यापार करने का उपदेश दिया है। वहां दूसरी ओर उपदेश यह है, भूल होने पर हानि सह कर भी अपने वचन पर दृढ रहो। जैसाकि—

भूयसा वस्न मचरत् कनीयोऽविक्रीतो अका-

* रुचि=लगाव, आकर्षणशक्ति अथवा चमक, महिमा।

निषं पुनर्यन्। स भूयसा कनीयो नारिरेचीद्दीना दक्षा विदुहन्ति प्रवाणम् ॥ (ऋग् ४।२४।९)

वह जो बहुत बड़े पण्य द्रव्य से थोड़ा मूल्य लेता है, और फिर जाकर यह कहता है, कि मैंने नहीं बेचा है, वह और लेकर उस थोड़े को पूरा नहीं कर सकता, प्रमादी और चतुर सब अपने वचन को दुहते हैं (अपने वचन का दूध पीते हैं, वचन को नहीं उलट सकते)।

व्यापारी को कई बार पण्य द्रव्यों के बेचने के अनन्तर यह पता लगता है, कि इससे बहुत अधिक मूल्य उसे मिल सकता था। पर धर्म यही है, कि जो वचन होचुका, उसको पूरा किया जाय, और तभी साख भी अच्छी रहती है। इस लिए इस बात की ओर विशेष ध्यान दिलाया है।

व्यापारियों के हृदयों में उत्साह और साहस की मात्रा बहुत बड़ी होनी चाहिये, जिससे कि वे देश देशान्तर और द्वीप द्वीपान्तरों में जाकर व्यापार करें, और सभ्यता फैलाएं, अतएव समुद्र में जाकर व्यापार करने का साक्षात् उपदेश वेद में पाया जाता है।

समुद्रं न सं चरणे सनिष्यवः (ऋ ४।५५।१)

जैसे धन कमाने वाले घूमने फिरने में समुद्र की महिमा गाते हैं *॥

पशुपालन

य उदानड्व्ययनं य उदानट् परायणम्। आव-

* और देखो पूर्व पृष्ठ १५ में ऋ० १। ४८। ३ की व्याख्या॥

तेनं निवर्तनमपि गोपा निवर्तताम् ॥ (ऋ०१०।१९।५)

जो पशुओं के खोज लगाने, दूर २ के मार्ग जानने, चराने और लौटा लाने में कुशल है, ऐसा गोप हमारी ओर झुके ॥

आ निवर्तन वर्तय नि निवर्तन वर्तय । भूम्या श्चतस्रः प्रदिशस्ताभ्य एना निवर्तय ॥८॥

हे लौटा लाने वाले ! गौओं (पशुओं को) चारों ओर घुमा और लौटा ला, भूमि के जो चारों प्रदेश हैं, उन से इन को लौटा ला ॥

पशुओं विशेषतः गौओं का पालन हरएक आर्य्य के लिए आवश्यक माना गया है, किन्तु यूथों के यूथ पालना और इस व्यवसाय से पशुओं के वंश को बढ़ाना उन्नत करना और लाभ उठाना यह एक अलग व्यवसाय है, जिसके करने वाले गोप कहे हैं । कार्य्य विभाग की दृष्टि से कृषक, वणिक् और गोप ये तीनों श्रेणियां विश् वा वैश्य नाम से बोली जाती हैं । और ये तीनों व्यवसाय देश का धन धान्य बढ़ाने के लिए बड़े उपयोगी हैं ॥

धर्मशास्त्र के प्रमाण-पशूनां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च । वणिक्पथं कुसीदं च वैश्यस्य कृषिमेव च ॥ (मनु० १ । ९०)

वैश्य का कर्म है (वेद का) स्वाध्याय करना, यज्ञ करना और दान देना (यह धर्म कार्य है) तथा पशुओं की रक्षा, वाणिज्य व्यापार, व्याज बट्टे का लेन देन*, और खेती करना (ये जीविका हैं) ॥

---

* निरा व्याज को जीविका बनाने का उपदेश वेद में कहीं नहीं है । और निरुक्त के अनुसार 'आनो भर प्रमगन्दस्य वेदः (ऋ०३ ।

इस प्रकार समाज की द्रव्यमयी आवश्यकता (सब प्रकार की उपज उपजाना, सर्वत्र पहुंचाना, और शिल्पकारी से हर एक प्रकार की उपयुक्त वस्तुओं को तय्यार कर देना आदि) को पूरा करना वैश्य वर्ण का सामाजिक काम नियत था ।

समाज की रक्षा ।

सब प्रकार की वस्तुओं की उत्पत्ति और प्राप्ति के अनन्तर सामाजिक जीवन में दूसरा काम समाज की रक्षा है । यह रक्षा दो प्रकार से होती है । एक तो समाज के अन्दर किसी प्रकार की गड़बड़ न मचे, दूसरा बाहर से समाज को कोई हानि न पहुंचे । अन्दर की गड़बड़ रोकने के लिए ठगों चोरों और लुटेरों का पूरा २ दमन करना चाहिए, और पारस्परिक व्यवहार तथा वर्ताव के हरएक नियम का हरएक से पूरा पालन करवाना चाहिये, लोगों के लिए ऐसी शिक्षा का प्रबन्ध हो, कि ये बातें उनके लिए स्वतःसिद्ध होती जाएं, पर यदि कोई इनका उल्लंघन करे, तो वह अपने अत्याचार का दण्ड पाए विना छूट न सके, जिस से हरएक सामाजिक पुरुष के स्वत्वों और

५३।१४) यहां निरा व्याज से जीविका करने वाले की वा अति व्याज लेने वाले की निन्दा की गई है । स्मृतियों में भी अधिक व्याज की निन्दा की गई है । वासिष्ठ धर्मसूत्र २।५० में है 'पञ्चमाषास्तु विंशत्या एवं धर्मो न हीयते' वीस कार्षापण पर पांच मासे अर्थात् १।) सैकड़ा व्याज लेने से धर्म की हानि नहीं होती । मनुस्मृति ८। १४० में यही व्याज वसिष्ट के मत से बतलाई है । और गौतम धर्म-सूत्र १२।३१ में कहा है, कि व्याज मिलाकर मूलधन दुगुना आजाय, तो उसके पीछे कुछ नहीं लेना चाहिए ॥

मान मर्यादा की पूरी रक्षा होती रहे। दूसरा बाहर से रक्षा का तात्पर्य्य यह है, कि समाज (जाति) को ऐसा बलिष्ठ बनाया जाए, कि बाहर से किसी जाति को उस पर आक्रमण करने का तनिक भी साहस न पड़े, और यदि कोई भूल से आक्रमण कर ही बैठे, तो उसे लेने के देने पड़ जाएं, और न ही कोई अन्य समाज अपने समाज के स्वत्वों वा मान मर्यादा का भंग कर सके। इस प्रकार रक्षा के लिए समाज को जिस बल की आवश्यकता है, उस का नाम क्षात्रबल है, और इस काम के करने वाले क्षत्र वा क्षत्रिय कहलाते हैं॥

इन्हीं क्षत्रियों (रक्षकों) में से सब से बढ़ कर योग्यता रखने-वाला क्षत्रिय अधिपति वा राजा चुना जाता है। राजा की उत्तरदायिता बहुत बड़ी होती है, इसलिए राजा को वरते समय बड़े समारोह के साथ एक संस्कार किया जाता है, जिस को **मूर्धाभिषेक** वा **अभिषेक** कहते हैं, इस का नया नाम **राजतिलक** है। इस संस्कार से संस्कृत क्षत्रिय समाज की रक्षा और समृद्धि की दीक्षा लेता है, और समाज उसको अपना अधिपति स्वीकार करता है। इस संस्कार की मुख्य बातें यह हैं॥

पहले गूलरकी एक आसन्दी (=मञ्च) रक्खी जाती है, उस पर व्याघ्र चर्म (शेर का मृगान)* बिछाया जाता है इस प्रकार, कि उस के लोम ऊपर रहें, और ग्रीवा (गर्दन) पूर्व की ओर रहे। व्याघ्र चर्म से लक्ष्य यह है—क्षत्रं वा एतद्

* इसी लिए इसका नाम सिंहासन=शेरका आसन है, जिस पर राजा बैठता है।

रण्यानां पशूनां यद् व्याघ्रः क्षत्रं राजन्यः क्षत्रेणैव तत् क्षत्रं समर्धयति' (ऐत०ब्रा०८।२।२।२), जंगली पशुओं के मध्य में यह क्षत्र है, जो कि व्याघ्र (शेर) है, इधर राजा क्षत्र है, ऐसा करने से (पुरोहित) (शेर के मृगान रूपी) क्षत्र से क्षत्र बल को समृद्ध करता है। (दुगना करदेता है)॥ अब राजा इस आसन्दी के पश्चिम में पूर्व की ओर मुख कर के, दाएं घुटने को भूमि पर टेक कर और दोनों हाथों से आसन्दी को पकड़ कर कहता है—

अग्निष्ट्वा गायत्र्या सयुक् छन्दसा रोहतु सवितोष्णिहा सोमो अनुष्टुभा बृहस्पतिर्बृहत्या मित्रावरुणौ पङ्क्त्येन्द्र स्त्रिष्टुभा विश्वेदेवा जगत्या तानहमनुराज्याय साम्राज्याय भौज्याय स्वाराज्याय वैराज्याय पारमेष्ठ्याय राज्याय माहाराज्यायाधि पत्याय स्वावश्यायाया तिष्ठायारोहामि' अग्नि गायत्री छन्द के साथ, सविता उष्णिक् के साथ, सोम अनुष्टुप् के साथ, बृहस्पति बृहती के साथ, मित्रा वरुण पङ्क्ति के साथ, इन्द्र त्रिष्टुप् के साथ तर ऊपर आरूढ हों उन के पीछे मैं आरूढ होता हूं राज्य करने के लिए, धर्म से पालन करने के लिए, समाज की भोग्य वृद्धि के लिए, उसका स्वाराज्य स्थिर रखने के लिए, उसको सब प्रकार से चमकाने के लिए, हां परमात्मा का राज्य स्थिर रखने के लिए, वही सब से बड़ा राज्य स्थिर रखने के लिए, सब का स्वामित्व स्थिर रखने के लिए, अपराधीनता के लिए, ऊंची अवस्थिति के लिए' इतना कहकर वह आसन्दी पर चढता है, तब पुरोहित इन मन्त्रों से अभिषेक करता है॥

इमा आपः शिवतमा इमा सर्वस्य भेषजीः ।
इमा राष्ट्रस्य वर्धनी रिमा राष्ट्रभृतोऽमृताः ॥
याभि रिन्द्र मभ्यषिञ्चत् प्रजापतिः सोमं राजानं वरुणं यमं मनुम् ।
ताभिरभिषिञ्चामि त्वा महं राज्ञां त्वमधिराजो भवेह ॥
महान्तं त्वामहीनां सम्राजं चर्षणीनाम् ।
देवी जनिन्त्र्यजीजनद् भद्रा जनित्र्यजीजनत् ॥
देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां ,
पूष्णो हस्ताभ्या मग्नेस्तेजसा सूर्यस्य वर्चसेन्द्र-
स्येन्द्रियेणाभिषिञ्चामिबलाय श्रियैयशसेऽन्नाद्याय भूर्भुवः स्वः ॥

ये जल बड़े कल्याणकारी हैं, ये सब औषध रूप हैं, ये राष्ट्र के धारने वाले हैं, ये अमृत हैं। प्रजापति ने जिन से इन्द्र सोम वरुण यम और मनु को अभिषिक्त किया था, उन जलों से मैं तुझे अभिषिक्त करता हूं, तू यहां राजाओं का अधिराज हो। तुझको उस देवी ने जो तेरी जननी है, उस पुण्यशीला ने, जो तेरी जननी है, तुझे बड़ों का बड़ा और सब लोगों का पालने वाला बना कर जन्म दिया है। मैं तुझे सविता देव की प्रेरणा में अश्वियों की भुजाओं से पूषा के हाथों से अग्नि के तेज से सूर्य के ब्रह्मवर्चस से इन्द्र की इन्द्रिय शक्ति से बल के लिए, श्री (राज्यलक्ष्मी) के लिए, यश के लिए और अन्नाद्य के लिए अभिषिक्त करता हूं॥

इमं देवा असपत्नꣳसुवध्वं महतेक्षत्राय महते ज्यैष्ठ्याय महते जानराज्यायेन्द्रस्येन्द्रियाय । इम-ममुष्यपुत्र ममुष्यैपुत्रमस्यै विश एषवोऽमी राजा सोमोऽस्माकं ब्राह्मणानां राजा (यजु१०।१८)

हे देवताओ ! यह जो उस प्रसिद्ध पुरुष का और उस प्रसिद्ध माता का पुत्र है, इसको तुम शत्रु रहित बनाओ, अग्रणी होने के लिए महान् क्षात्रबल (रक्षणशक्ति) के लिए, महती बड़ाई के लिए, महान् जनशासन के लिए, इस समाज (की उन्नति) के लिए। हे अमुक जातियो ! यह तुम्हारा राजा है। सोम हम ब्राह्मणों का राजा है*।

यजुर्वेद २० । ३ में इस प्रकार है—

देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्याम्। अश्विनो र्भैषज्येनतेजसे ब्रह्मवर्चसाया-भिषिञ्चामि सरस्वत्यै भैषज्येन वीर्यायान्नाद्येनाभि-षिञ्चामीन्द्रस्येन्द्रियेण बलाय श्रियै यशसेऽभिषि-ञ्चामि।

सविता देवकी प्रेरणा में अश्वियों की भुजाओं से, पूषा के हाथों से, अश्वियों के औषध से मैं तुझे तेज और ब्रह्मवर्चस (प्रताप और धार्मिक तेज) के लिए अभिषिक्त करता हूं, सरस्वती के औषध से शक्ति और स्वास्थ्य के लिए अभिषिक्त करता हूं, इन्द्र की इन्द्रिय शक्ति से तुझे बल श्री और यश के लिए अभिषिक्त करता हूं।

कोऽसि कतमोसि कस्मैत्वा कायत्वा। सुश्लोक सुमंगल सत्यराजन् ॥४॥

* अभिषेक का सविस्तर वर्णन ऐत० ब्रा० ८ । २-४ शत० ब्रा० ५ । ४ । २ । १-५ कात्यायन १५ । ४- में है ॥

तुम कौन हो, किनमें से हो, (यह अनुभव करो) किस प्रयोजन के लिए तुझे (अभिषिक्त करता हूं) ? सर्वत्र सुख फैला देने के लिए (तुझे अभिषिक्त करता हूं) हे पवित्र कीर्तिवाले ! हे शुभ मंगल लाने वाले, हे सच्चे राजन् ! ॥

तिस पर राजा अपने एक २ अंग को स्पर्श करता हुआ इस प्रकार अपने आपको राष्ट्र में मिलाने की प्रतिज्ञा करता है, मानों वह राष्ट्र से अलग अपनी कोई सत्ता नहीं रखता—

शिरो मे श्रीर्यशोमुखं त्विषिः केशाश्चश्मश्रूणि ।
राजामे प्राणोअमृतꣳसम्राट् चक्षु र्विराट् श्रोत्रम् ॥५॥

मेरा सिर (राष्ट्र की) श्री हो, मेरा मुख (राष्ट्रका) यश हो, मेरे बाल और मूछें (राष्ट्र की) चमक हो, मेरा सांस जो राष्ट्र के लिए अमृत का काम दे (राष्ट्रका) राजा हो, मेरा नेत्र सम्राट् हो और श्रोत्र विराट् (छोटा राजा) हो ।

जिह्वा मे भद्रं वाङ्महो मनोमन्युः स्वराड् भामः ।
मोदाः प्रमोदा अङ्गुली रङ्गानि मित्रं मे सहः ॥६

मेरी जिह्वा भलाई हो, मेरी बाणी (राष्ट्र की) महिमा हो, मेरा मन (राष्ट्र का) मन्यु हो, और मेरा क्रोध (राष्ट्र का) स्वराट् हो, मेरी अंगुलियें मोद हों और अंग प्रमोद हों, मेरा मित्र शत्रुओं पर प्रबल आनेवाली शक्ति हो ॥

बाहू मे बलमिन्द्रियꣳहस्तौ मे कर्म वीर्यम् ।
आत्मा क्षत्र मुरोमम ॥७॥

मेरी दोनों भुजाएं बल और इन्द्रिय शक्ति हों, मेरे दोनों हाथ राष्ट्र का कर्म हो, मेरा धड़ राष्ट्र की वीर शक्ति हो, मेरी छाती अभयक हो ॥

पृष्ठीर्मेराष्ट्रमुदरमंसौ ग्रीवाश्च श्रोणी । ऊरू अरत्नी जानुनी विशोमेऽङ्गानि सर्वतः ॥८॥

मेरी पीठ राष्ट्र हो, मेरा उदर, कन्धे, ग्रीवा, श्रोणि, रानें, अरत्नियें, गोडे और मेरे सारे ही अङ्ग राष्ट्र के लोग हों ॥

प्रति क्षत्रे प्रतितिष्ठामि राष्ट्रे प्रत्यश्वेषु प्रतितिष्ठामि गोषु । प्रत्यङ्गेषु प्रतितिष्ठाम्यात्मन् प्रति प्राणेषु प्रतितिष्ठामि पुष्टे प्रति द्यावापृथिव्योः प्रतितिष्ठामि यज्ञे ॥१०॥

मैं क्षत्र (रक्षा के कार्य में) दृढ होकर खड़ा होता हूं, मैं राष्ट्र में दृढ होकर खड़ा होता हूं, मैं घोड़ों और गौओं (की पुष्टि) में दृढ होकर खड़ा होता हूं. मैं (राज्य के) अङ्गों में और (राज्य के) शरीर में दृढ होकर खड़ा होता हूं, मैं प्राणों में दृढ होकर खड़ा होता हूं, मैं (राष्ट्र को) पुष्ट करने में दृढ होकर खड़ा होता हूं. मैं द्यौ और पृथिवी में दृढ होकर खड़ा होता हूं, मैं यज्ञ में दृढ होकर खड़ा होता हूं, अर्थात् इन सब कामों को पूर्ण करने में मैं सदा सावधान रहूंगा ॥

अभिषिक्त हुए राजा को पुरोहित निम्नसूक्तों से राज्य भार उठाने के लिए प्रोत्साहन और आशीर्वाद देता है । और शत्रु पर चढाई के समय भी इन्हीं सूक्तों से अभिमन्त्रण करता हुआ उत्तेजना देता है—

आत्वा हार्षं मन्तरेधि ध्रुवस्तिष्ठाविचाचलिः । विशस्त्वा सर्वा वाञ्छन्तु मा त्वद् राष्ट्रमधि भ्रशत् ॥१

(ऋग्० १०।१७३)

मैने तुझे चुना है, तू हमारे मध्य में अधिपति हो, ऐसा डट कर खड़ा हो, कि न कभी डोले और न कभी हिले, सब लोग तुझे चाहते रहें, * राष्ट्र तुझ से कभी न फिसलें।

इहैवैधि माप च्योष्ठाःपर्वत इवाविचाचलिः।

इन्द्र इवेहध्रुवस्तिष्ठेह राष्ट्रमु धारय ॥२॥

तुम यहां ही बने रहो, मत कभी फिसलो, पर्वत की नाईं अत्यन्त अचल बनो इन्द्र की नाईं यहां दृढ होकर खड़े हो और राष्ट्र को पूरा २ संभालो।

इममिन्द्रो अदीधरद्ध्रुवं ध्रुवेण हविषा।

तस्मै सोमो अधिब्रवत् तस्मा उ ब्रह्मणस्पतिः ॥३॥

इन्द्र (परमात्मा) इस को अटल यज्ञ (लगातार प्रजा पालन रूप दीर्घसत्र) के साथ अटल स्थापन करे, सोम (सुशील विद्वान् ब्राह्मण) इसको उपदेशदे (कर्तव्यपरायण रक्खे) वेद का स्वामी (ईश्वर) इसको उपदेशदे (वेदमार्ग पर चलाए)

ध्रुवाद्यौर्ध्रुवा पृथिवी ध्रुवासः पर्वता इमे।

ध्रुवं विश्वमिदं जगत् ध्रुवो राजा विशामयम् ॥४॥

द्यौ अपने नियम पर अटल है, यह पृथिवी अटल है, ये पर्वत अटल हैं, यह सारा ही जगत् अपने २ नियम पर अटल खड़ा है (जैसे ये अटल हैं) वैसे प्रजाओं का यह राजा अटल हो॥

---

* 'सब लोग चाहते रहें' इस वचन से बोधन किया है, कि राजा वही हो, जिस को सब चाहते हैं, और फिर राजा राज्यभार को ऐसी उत्तमता से संभाले, कि सब उसको चाहते रहें, ताकि राष्ट्र उस से न फिसले।

ध्रुवं ते राजा वरुणो ध्रुवं देवो बृहस्पतिः ।
ध्रुवं त इन्द्रश्चाग्निश्चराष्ट्रं धारयतां ध्रुवम् ॥५॥

राजा वरुण तेरे राष्ट्र को दृढ धारण करे, बृहस्पति देव तेरे राष्ट्र को दृढ धारण करे, इन्द्र और अग्नि तेरे राष्ट्र को दृढ धारण करें ॥

ध्रुवं ध्रुवेण हविषाऽभिसोमं मृशामसि ।
अथो त इन्द्रः केवलीर्विशोबलिहृतस्करत् ॥६॥

अटल रहने वाले (रक्षा-) यज्ञ के साथ हम अटल रहने वाले सोम (राजा) को स्पर्श करते हैं, अब इस के अनन्तर इन्द्र सारी प्रजाओं को निरा तेरी करप्रद बनावे ॥

अभीवर्तेन हविषा येनेन्द्रो अभिवावृते ।
तेनास्मान् ब्रह्मणस्पतेऽभिराष्ट्राय वर्तय ॥१॥
(ऋग् १० । १७४ ।)

हे प्रार्थनाओं के फलदाता ! (शत्रु दलों के मुंह) मोड़ देने वाला, (वा शत्रु दलों को अपने अधीन बना देने वाला) वह यज्ञ (वीरोचित कर्म) जिस से इन्द्र (दलों के मुंह) मोड देता है, (वा अधीन कर लेता है), * उस यज्ञ से हमें राष्ट्र (की रक्षा और समृद्धि) के लिए (शत्रुओं के) ऊपर चढ़ा ले चल ॥

अभिवृत्य सपत्नानभि या नो अरातयः ।

---

* जिस दैवी शक्ति से इन्द्र वृत्रों को मारकर प्रजा के लिए जल बरसाता, और सूर्य को उदय कर अन्धकार को मिटाता है उस दैवी शक्ति से मुझे राष्ट्र की रक्षा और विद्या के प्रकाश के लिए सम्पन्न कर ॥

अभि पृतन्यन्तं तिष्ठाभि यो न इरस्यति ॥२॥

वैरियों के मुंह मोड़ कर, और जो हमारे स्वत्व दबाते हैं, उन के मुंह मोड़ कर, हे राजन् हमारे साथ संग्राम चाहने वाले को दबा कर खड़ा हो, और जो हमारे साथ ईर्षा करता है (हमारी उन्नति में बाधा डालता है) उसको दबा कर खड़ा हो॥

अभि त्वा देवः सविता भि सोमो अवीवृतत् ।
अभि त्वा विश्वा भूतान्यभीवर्तो यथाससि ॥३॥

सवितादेव और सोम ने तुझे दलों के मुंह मोड़ने वाला बनाया है, सारी भौतिक शक्तियों ने तुझे दलों के मुंह मोड़ने वाला बनाया है, जिस से कि तू एक विजयी राजा बने॥

अगले दो मन्त्र राजा का वचन हैं—

येनेन्द्रो हविषा कृत्व्यभवद् द्युम्न्युत्तमः ।
इदं तदक्रि देवा असपत्नः किलाभुवम् ॥४॥

जिस यज्ञ (रक्षाधर्म) से इन्द्र कृतकृत्य यशस्वी और सब से श्रेष्ठ हुआ है, यह वह (याग) हे देवताओ ! मैंने किया है, और (तुम्हारे साथ) मैं शत्रु रहित बन गया हूं॥

असपत्नः सपत्नहाभि राष्ट्रो विषासहिः ।
यथाहमेषां भूतानां विराजानि जनस्यच॥५॥

मेरी किसी से शत्रुता नहीं, पर मैं एक राष्ट्र का शासक बना हू, सो राष्ट्र के शत्रुओं को दवाना वा मार गिराना मेरा कर्तव्य धर्म हुआ है, जिससे कि मैं इन सब लोगों पर और अपने जनों पर (प्रजा और शासकों पर) एक उत्तम राज्य की छाया बनाए रक्खूं॥

हे योद्धाओ ! तुम्हारा इन्द्र जो अकेला ही दलों के दलों से भिड़ जाने वाला, दलों का जीतने वाला, सोम पीने वाला, भुजचक्र से युक्त, भयंकर धनुष धारे हुए, निशाने पर लगने वाले बाणों से वैरियों को दूर फैंकने वाला है, यह अवश्यमेव हमारे शत्रुओं को अधीन कर लाएगा, जब कि तुम हाथों में बाण लिए और तरकश धारण किये हुए इसके साथ होगे।

बृहस्पते परिदीया रथेन रक्षोहाऽमित्राँ अपबाधमानः। प्रभञ्जन्त्सेनाः प्रमृणो युधा जयन्नस्माकमेध्यविता रथानाम् ॥४॥

हे बृहस्पते (वेदज्ञ सेनापते) तू रथ पर चढ़कर राक्षसों को मारता हुआ और शत्रुओं को मार भगाता हुआ चारों ओर घूम, (वैरियों के) दलों को छिन्न भिन्न करता हुआ नष्ट विनष्ट कर दे और युद्ध में विजय पाता हुआ हमारे रथों का रक्षक हो।

बलविज्ञायः स्थविरः प्रवीरः सहस्वान् वाजी सहमान उग्रः। अभिवीरो अभिसत्वा सहोजा जैत्रमिन्द्र रथमातिष्ठ गोवित् ॥५॥

हे इन्द्र ! तुम जो सेना (के विशेषाविशेष) के जानने वाले (युद्धों के) अनुभवी, बड़े शूरवीर, उत्साह और साहस से भरे हुए, (द्वन्द्वों के) सहने वाले, भयंकर, वीरों और अनुचरों से घिरे हुए और स्वभाव सिद्ध पराक्रम से युक्त हो, तुम इस विजय दिलाने वाले रथ पर चढ़ो और भूमि को जीतो।

गोत्रभिदं गोविदं वज्रबाहुं जयन्त मज्म

प्रमृणन्त मोजसा । इमं सजाता अनुवीरयध्व मिन्द्रं सखाया अनुसंरभध्वम् ॥६॥

हे सजात भाइयो ! हे साथियो ! दलों के तोड़ने वाले, पर्वतों के फोड़ने वाले, भूमि के जीतने वाले, भुजाओं में वज्र लिए हुए, बल से शत्रुओं का संहार करते हुए इस इन्द्र के साथ तुम बराबर की वीरता दिखलाओ, बराबर का उत्साह और उद्योग दिखलाओ ।

अभिगोत्राणि सहसा गाहमानोऽदयो वीरः शतमन्युरिन्द्रः । दुश्च्यवनो पृतनाषाड युध्यो स्माकं सेना अवतु प्रयत्सु ॥ ७॥

शत्रुदलों को गाहन करता हुआ, क्रोध से लालोलाल हुआ, स्वयं अजेय और शत्रु दलों का जीतने वाला, युद्ध करने के अशक्य, निर्दय वीर इन्द्र युद्धों में हमारी सेनाओं की पूरी २ रक्षा करे ।

इन्द्र आसां नेता बृहस्पतिर्दक्षिणा यज्ञः पुर एतु सोमः । देवसेनानामभि भञ्जतीनां जयन्तीनां मरुतो यन्त्वग्रम् ॥ ८ ॥

इन्द्र इनका नायक हो, बृहस्पति, दक्षिणा, यज्ञ और सोम आगे चलें, मरुत शत्रुदलों को मर्दन करती हुई और विजयपाती हुई देवसेनाओं के अग्र-भाग में चलें (=शत्रुदलों पर चढ़ाई करते समय सब दैवी शक्तियां हमारा साथ दें)।

इन्द्रस्य वृष्णो वरुणस्य राज्ञ आदित्यानां मरुतां

शर्ध उग्रम् । महामनसां भुवनच्यवानां घोषो देवा-
नां जयतामुदस्थात् ॥ ९ ॥

शक्तिमान् सेनापति का, न्यायशील राजा का, और वेग से धावा करने वाले तेजस्वी योद्धाओं का बल उग्र हो, और पृथिवी को कंपा देने वाले, ऊंचे मन वाले, जीतते हुए देवों (आर्य सैनिकों) का सिंहनाद और जय ध्वनि ऊंची उठे ॥

उद्धर्षय मघवन्नायुधान्युत्सत्वनां मामकानां
मनांसि । उद्वृत्रहन् वाजिनां वाजिनान्युद्रथानां
जयतां यन्तु घोषाः ॥ १० ॥

हे शक्तिमन् (सेनापते) अपने शस्त्रों को चमका और अपने सैनिकों के मन चमका, हे शत्रुओं के मारने वाले घोड़ों के वेग चमका, जिस से कि विजय पाते हुए हमारे रथों की ध्वनि आकाश में गूंज जाए ।

अस्माकमिन्द्रः समृतेषु ध्वजेष्वस्माकं या इष-
वस्ता जयन्तु । अस्माकं वीरा उत्तरे भवन्त्वस्माँ
उ देवा अवता हवेषु ॥११॥

जब झंडे आपस में मिलते हैं, उस समय इन्द्र हमारा रक्षक हो, हमारे जो बाण हैं, वे जीतें, हमारे वीर बढ़कर रहें, हे देवताओ संग्रामों में हमारी रक्षा करो ।

अमीषां चित्तं प्रतिलोभयन्ती गृहाणाङ्गान्यप्वे
परेहि । अभिप्रेहि निर्दह हृत्सु शोकैरन्धेनामित्रा-
स्तमसा सचन्ताम् ॥ १२ ॥

हे अप्वे (अंगों को जकड़ कर मूर्छित कर देने वाले अस्त्र) शत्रुओं के चित्त को मोहित (बे होश) करती हुई तू उन के अंगों को जकड़ ले, यहां से दूर चली जा, शत्रुओं की ओर जाकर उनपर आक्रमण कर, जिस से कि हमारे शत्रु घुप अन्धेरे में डूब जाएं (उनको कुछ न सूझ पड़े)।

प्रेता जयता नर इन्द्रो वः शर्म यच्छतु ।
उग्रा वः सन्तु बाहवोऽनाधृष्या यथा सथ ॥१३॥

हे शूर वीरो ! आगे बढ़ो और जीतो, इन्द्र तुम्हें आश्रय दे; तुम्हारी भुजाएं भयंकर हों, जिस से तुम किसी से न दबाए जासको ।

इस अगले सूक्त से पुरोहित परमात्मा से विजय की सहायता मांगता है ।

शास इत्था महाँ अस्यमित्रखादो अद्भुतः ।
न यस्य हन्यते सखा न जीयते कदाचन ॥१॥
(ऋ १०। १५२)

हे इन्द्र ! तुम शत्रुओं के नाश करने वाले, शक्तिमान् अद्भुत शासक हो, जिसका सखा [भक्त] न कभी मारा जाता है, न जीता जाता है ।

स्वस्तिदा विशस्पतिर्वृत्रहा विमृधो वशी ।
वृषेन्द्रः पुर एतु नः सोमपा अभयंकरः ॥ २ ॥

कल्याण कारक, विघ्न निवारक, शत्रुनाशक, संग्रामकारी, अभयकारी, सोम का स्वीकार करने वाला (हमारी अर्पण की हवियों का आदर करने वाला) सब को वश में रखने वाला प्रजापति इन्द्र हमारे आगे चले (शत्रु पर चढ़ाई में हमारा साथी हो)

विरक्षो विमृधो जहि विवृत्रस्य हनूरुज ।
विमन्यु मिन्द्र वृत्रहन्नमित्रस्याभिदासतः ॥३॥

हे शत्रुओं के मारने वाले इन्द्र ! राक्षसों को और हमारे साथ संग्राम करने वालों को मार हटा । शत्रु के दोनों जबड़े तोड़ डाल, हमें दास बनाने का यत्न करने वाले अमित्र के क्रोध को मिटा डाल ।

विन इन्द्र मृधो जहि नीचा यच्छ पृतन्यतः ।
यो अस्माँ अभिदासत्यधरं गमया तमः ॥४॥

हे इन्द्र ! संग्रामों को दूर हटा, हमारे विरुद्ध सेना लाने वालों को नीचा दिखला, जो हमें दास बनाने का यत्न करता है, उसको घने अन्धकार में डाल ।

अपेन्द्र द्विषतो मनोऽपजिज्यासतो वधम् ।
विमन्योः शर्म यच्छ वरीयो यवया वधम् ॥५॥

हे इन्द्र शत्रु के मनोरथों और मन्त्रणाओं को व्यर्थ करदे, हमारी आयु घटाना चाहते हुए के शस्त्र को परे हटा, शत्रु के क्रोध से हमें बहुत बड़ी रक्षा दे, वध को हम से परे रख ।

युद्ध में परमात्मा का हाथ—वेद यह उपदेश देता है, कि युद्ध में परमात्मा का हाथ उन के साथ होता है, जो आर्य होते हैं अर्थात् धर्ममर्यादा के रक्षक और प्रजा के पालक होते हैं, और जो इन के विपरीत दस्यु होते हैं, परमात्मा स्वयं उन की शक्ति का ह्रास करते हैं ।

इन्द्रः समत्सु यजमानमार्यं प्रावद् विश्वेषु शत-

शत्रुओं का नाश करने वाला और पुरों (किलों) का तोड़ने वाला इन्द्र पापयोनि दस्युओं को परे धकेलता है, भूमि और जल आर्य के लिये बनाता है, वह यज्ञ करने वाले की कामना को सदा पूर्ण करता है।

स्थिरा वः सन्त्वायुधा पराणुदे वीळू उत प्रतिष्कभे।
युष्माकमस्तु तविषी पनीयसी मा मर्त्यस्य मायिनः ॥
(ऋ १ । ३९ । २)

तुम्हारे शस्त्र (शत्रु का आक्रमण) रोकने के लिए दृढ हों, और उनको परे धकेल ले जाने के लिए स्थिर हों, तुम्हारी सेना बढ़ कर स्तुति के योग्य हो, मत उस मनुष्य की, जो कि मायावी (छल कपट दम्भ से युक्त) है।

आर्यधर्म में छल कपट का व्यवहार सर्वथा वर्जित है, यहां तक, कि युद्ध में भी वर्जित है—पर युद्ध में, यदि शत्रु माया का प्रयोग करे, तो उस के प्रतियोग में माया से भी उस को मात कर देना श्लाघनीय कर्म है, जैसा कि कहा है—

मायाभिरिन्द्र मायिनं त्वं शुष्ण मवातिरः।
विदुष्टे तस्य मेधिरा स्तेषां श्रवांस्युत्तिर ॥ (ऋ १।११।७)

हे इन्द्र तू ने मायी शुष्ण का माया प्रयोगों से नाश किया है, मेधावी पुरुष तेरे इस कर्म को जानते हैं, उन (अपने जनों) के यश को ऊंचे उठा।

राजा का दूसरा कर्तव्य राष्ट्र की उन्नति करना है, जैसा कि पूर्व अभिषेक कर्म में दिखला चुके हैं। अन्यत्र भी कहा है जैसे

त्वां विशो वृणतां राज्याय त्वामिमाः प्रदिशः

पञ्च देवीः । वर्ष्मन् राष्ट्रस्य ककुदि श्रयस्व ततो न उग्रोविभजा वसूनि ॥ (अथ० ३ । ४ । २)

तुझे राजकर्म करने के लिए सब लोग चुनें, तुझे पांचों दिव्य दिशाएं चुनें, राष्ट्र के शरीर में तू उच्च स्थान में स्थित हो, और तेजस्वी बनकर हमें ऐश्वर्य बांट कर दे ।

इस में यह बोधन किया है, कि राजा के चुनने में सारी प्रजाओं का अधिकार है । सारा राष्ट्र मानो एक शरीर है, जिस में राजा का एक उच्चस्थान है, जैसे शरीर में सिर का, और उस का कर्तव्य सब के ऐश्वर्य को बढ़ाना है ।

भूतो भूतेषु पयआदधाति स भूताना मधिपतिर्बभूव । तस्य मृत्युश्चरति राजसूयं स राजा राज्य मनुमन्यता मिदम् ॥ (अथ० ९ । ८ । १)

राजा जो कि स्वयं समृद्ध होकर समृद्ध प्रजाजनों में, दूध (उत्तम भोग्य) स्थापन करता है, वह लोगों का अधिपति होने योग्य है, स्वयं काल उस का राजसूय कर्म करता है । ऐसा राजा इस राज्य को अंगीकार करे ।

व्याघ्रो अधिवैयाघ्रे विक्रमस्व दिशो महीः ।
विशस्त्वा सर्वा वाञ्छन्त्वापो दिव्याः पयस्वतीः ॥४॥

शेर के चर्म पर बैठ कर शेर की नाईं दूर दिशाओं तक अपना विक्रम दिखला, प्रजाएं सारी तुझे चाहें, और रस से भरे हुए दिव्य जल तुझे चाहें (तेरा अभिषेक करें) ।

अभित्वा वर्चसा सिञ्चन्नापो दिव्याः पयस्वतीः ।
यथाऽसो मित्रवर्धन स्तथा त्वा सविता करत् ॥६॥

रस से भरे हुए दिव्य जल दिव्य कान्ति से तेरा अभिषेक करें, और प्रेरक परमात्मा तुझे ऐसा बनावे, कि तू मित्रों (प्रजा जनों) को बढ़ाने वाला हो।

वेद में प्रसंग से भी बहुत से कर्तव्य राजा के वर्णन किये गए हैं; यथा—राजेवाजुर्यम् (ऋ१।६७।१) राजा जैसे अवृद्ध को स्वीकार करता है। इस से बोधन किया है, कि राजकार्यों में युवा (उमंगों से भरे हुए) पुरुषों को ही नियुक्त करना चाहिये। राजेवसत्पतिः (ऋ १। १३०। १) जैसा कि सत्पुरुषों का रक्षक राजा। इस से दुष्टों का दमन कर के श्रेष्ठों की रक्षा करना राजा का धर्म बतलाया है। 'राजेवामवान्'(ऋ४।४।१) जैसे मन्त्रियों से युक्त राजा। इस से राजा को राजकार्यों में अपनी स्वतन्त्रता वर्तने का, निषेध दिखलाया है, उस के सारे कार्य मन्त्रणा पूर्वक होने चाहियें। राजेवजेरवृकेक्षेष्यन्तः (ऋ ६। ८। ४) राजा की नाईं (शत्रुओं को) जीत और दस्यु शून्य देश के अन्दर निवास कर। इस से अपने देश को दस्युओं से शून्य बनाना राजा का कर्तव्य दिखलाया है। त्वं राजेव सुव्रतो गिरः सोमाविवेशिथ। ऋ०९।२०।५ हे सोम तू राजा की न्याईं उत्तम व्रतों वाला होकर हमारे वचनों के अन्दर घुस जाता है। इस से राजा का प्रजा की बातों को सुनना और उनकी तह में पहुंच कर केवल न्याय का पक्षपाती होना और उनके भलाई के काम करना राजाका धर्म बतलाया है। राजेवदस्मः (ऋ० ९। ८२। २) राजा की नाईं अद्भुत काम करने वाला। इत्यादि—

अन्य शास्त्रों के प्रमाण—प्रजानां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च । विषयेष्व प्रसक्तिश्च क्षत्रियस्य समासतः ॥ (मनुस्मृति १ । ८९) ॥

प्रजाओं की रक्षा करना (किसी पर भी किसी तरह का कोई अत्याचार न होने देना) दान देना, यज्ञ करना, वेद पढ़ना, विषयों में न फंसना यह संक्षेप से क्षत्रिय का कर्म है ।

शौर्य तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम् । दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम् ॥ (गीता० १८ । ४३)

शूरवीरता, तेज (प्रताप) धैर्य्य, फुर्ती, युद्ध में पीठ न दिखलाना, दान देना और शासन करने की शक्ति यह क्षत्रिय का स्वाभाविक कर्म है ॥

दद्याद् राजन् न याचेत यजेत न च याजयेत् ॥१३॥
नाध्यापयेदधीयीत प्रजाश्च परिपालयेत् ।
नित्योद्युक्तो दस्युवधे रणे कुर्यात् पराक्रमम् ॥

महाभारत, शान्तिपर्व अध्याय ६० ॥

क्षत्रिय का धर्म है, कि दान दे, पर किसी से मांगे नहीं, यज्ञ करे, पर याजकता न करे, अध्ययन करे, पर अध्यापन वृत्ति न करे, प्रजाओं का पालन करे, दस्युओं के वध में सदा तत्पर रहे, और रण में पराक्रम दिखलाए ॥

विद्या और धर्म का प्रचार ।

समाज में तीसरी आवश्यकता विद्या और धर्म के प्रचार की है, जिस समाज में विद्या और धर्म नहीं, वह नष्ट भ्रष्ट हो जाता है, और जिसमें विद्या और धर्म की उत्तरोत्तर उन्नति

होती है, वह फलता फूलता है। समाज की इस आवश्यकता को पूर्ण करने के लिए जो अग्रसर हुए, वे ब्राह्मण कहलाए ॥

हृदा तष्टेषु मनसो जवेषु यद् ब्राह्मणाः संयजन्ते सखायः । अत्राह त्वं विजहुर्वेद्याभिरोह ब्रह्माणो विचरन्त्युत्वे ॥ (ऋग्वेद० १० । ७१ । ८)

ब्राह्मण जहां आपस में साथी बनकर परोपकार में लगते हैं, जब कि वे मन के वेगों (गहरे विचारों और भावों को) हृदय से अनुभव कर चुके हों, तब वे अपनी विद्याओं और महिमाओं से दूसरों को दूर पीछे छोड़ देते हैं, और वे दूसरे निरा वेद को उठाए फिरते हैं ॥

यहां विद्या और धर्मानुष्ठान में अग्रसर होकर लोगों में विद्या और धर्म का प्रचार करना ब्राह्मण का कर्तव्य दिखलाया है ॥

दूसरा काम ब्राह्मण का यह है, कि जिन का पुरोहित हो, उनके तेज और बल को बढ़ाए ।

स६शितं मे ब्रह्म स६शितं वीर्यं बलम् ।
स६शितं क्षत्रं जिष्णु यस्याहमस्मि पुरोहितः ॥
(यजु० ११ । ८१)

मेरा ब्रह्म तेज तीव्र है, मेरी इन्द्रिय शक्ति और शारीरिक बल तीक्ष्ण हैं और तीक्ष्ण कर दिया है मैंने जयशील क्षत्रिय को, जिसका मैं पुरोहित हूं ॥

उदेषां बाहू अतिरमुद्वर्चो अथो बलम् ।

क्षिणोमि ब्रह्मणाऽमित्रानुन्नयामि स्वाँ अहम् ॥

(यजु० ११ । ८२)

मैंने इनकी भुजाओं को ऊँचा उठा दिया है, इनके तेज और बल को ऊँचा कर दिया है, मैं वेद के बल से विरोधियों को क्षीण करता हूं, और अपनों को ऊँचा उठाता हूं ॥

तीक्ष्णीयांस परशोरग्नेस्तीक्ष्णतरा उत ।
इन्द्रस्य वज्रात् तीक्ष्णीयांसो येषामस्मि पुरोहितः ॥

(अथर्व० ३ । १९ । ४)

कुल्हाड़े से वे बढ़कर तीक्ष्ण हैं, और अग्नि से भी बढ़कर तीक्ष्ण हैं, इन्द्र के वज्र से भी बढ़कर तीक्ष्ण हैं, जिन का मैं पुरोहित हूं ॥

राष्ट्र के कोने २ में विद्या और धर्म के प्रचार करने का ब्राह्मण का सच्चा उत्साह इस जाज्वल्यमाण वाणी से प्रकाशित किया है—वयं राष्ट्रे जागृयाम पुरोहिताः (यजु ९ । २३) हम राष्ट्र में पुरोहित हुए सदा जागते रहें ॥

आरोग्य—चौथा काम ब्राह्मण का यह है कि समाज को ऐसे नियमों पर चलाए, कि जिससे उनके शरीर स्वस्थ दृढिष्ठ और बलिष्ठ रहें । और वैद्यविद्या में ऐसा सिद्ध हस्त हो कि हरएक रोग की निवृत्ति कर सकें—

यत्रौषधीः समग्मत राजानः समिताविव ।
विप्रः स उच्यते भिषग् रक्षोहाऽमीवचातनः ॥

(ऋ० १० । ९७ । ६)

जहां ओषधियें संग्राम में क्षत्रियों की तरह (रोग के विरुद्ध) संगत हो (–कर लड़–) ती हैं, वहां वह विद्वान् वैद्य कहलाने का अधिकार रखता है, (जो उन ओषधियों से) राक्षसों (रोग के कृमियों) को मार कर के रोग को जड़ मूल से उखाड़ देता है ॥

ओषधयः सम्वदन्ते सोमेन सह राज्ञा।
यस्मै कृणोति ब्राह्मणस्तं राजन् पारयामसि ॥
(ऋ० १०। ९७। २२)

ओषधियें (अपने) राजा सोम के साथ यह सम्वाद करती हैं, कि जिसके लिए ब्राह्मण (पूरा विद्वान् वैद्य) चिकित्सा करता है, उसको हे राजन् ! हम पार पहुंचाती हैं * ॥

ब्राह्मण जीवन क्या है, इसका सारांश निम्न लिखित मन्त्र में संक्षेपतः स्पष्ट कर दिया है—

ऋतं शंसन्त ऋजु दीध्याना दिवस्पुत्रासो

* परमात्मा ने कोई ओषधि व्यर्थ नहीं रची, सब किसी न किसी रोग का इलाज हैं, और बल बुद्धि के बढ़ाने वाली भी हैं, ओषधियों में बड़ा २ सामर्थ्य है, पर सोम में सब से बढ़कर सामर्थ्य हैं, उसके बराबर किसी दूसरी ओषधि का सामर्थ्य नहीं, अतएव सोम ओषधियों का राजा कहा जाता है, यहां मन्त्रद्वार से यह दिखलाया है, कि परमात्मा ने ओषधियों को जिस काम पर लगाया है, उसके लिए मानों वे अपने अधिष्ठाता सोम के पास अपने काम का विवरण यह देती हैं, कि हम अपने काम में कभी प्रमाद नहीं करतीं, चूक वहीं होती है, जब कि कोई अनजान हमारा यथार्थ प्रयोग नहीं करता है ॥

असुरस्य वीराः। विप्रं पद मङ्गिरसो दधाना यज्ञस्य धाम प्रथमं मनन्त ॥ (ऋग्वेद १० । ६७ । २)

ऋत (सृष्टि नियम और वैदिक धर्म) का प्रचार करते हुए, मन में कोई भेद न रखते हुए (सरल हृदय), बलवान् द्यौ के वीर पुत्र, विप्रपद को धारण करते हुए अङ्गिरस (आग्नेय ब्राह्मण–अग्निवत् तेजस्वी ब्राह्मण) परोपकार के ऊंच स्थान को पहचानते हैं ॥

अन्य शास्त्रों के प्रमाण—अध्यापनमध्ययनं यजनं याजनं तथा। दानं प्रतिग्रहश्चैव ब्राह्मणानाम कल्पयत् ॥ (मनु० १।८८)

पढना, पढाना, यज्ञ करना, और कराना, दान देना और लेना ये ब्राह्मणों के कर्म हैं ॥

शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जव मेव च।
ज्ञानं विज्ञान मास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम् ॥
[गीता १८ । ४२)

शम (मन की शान्ति) दम (इन्द्रियों पर वश) तपस्या शुद्धि, क्षमा, सरलता, ज्ञान और विज्ञान (शास्त्र का ज्ञान और अपना अनुभव) और आस्तिकता (परलोक और ईश्वर पर विश्वास) यह ब्राह्मण का स्वभावजन्य कर्म है ॥

दममेव महाराज धर्ममाहुः पुरातनम्।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव तत्र कर्म समाप्यते ॥ ९ ॥
तं चेद् धनमुपागच्छेद् वर्तमानं स्वकर्मणि ॥ १० ॥
कुर्वीतापत्य सन्तान मथोदद्याद् यजेत च ॥
[महाभारत शान्तिपर्व अध्याय ६०]

अपने आपको वश में रखना और वेद का अभ्यास यही ब्राह्मण का मुख्य धर्म कहते हैं। इस में उसका सारा कर्तव्य पूरा होजाता है ॥ ९ ॥ अपने इस कर्तव्य में लगे रहने पर अपने आप यदि उसके पास धन आजावे, तब विवाह करके सन्तानोत्पादन करे, दान देवे और यज्ञ करे ॥

ब्राह्मणों में विद्या का मान—ब्राह्मणों में विद्या का बड़ा मान था। विद्या उनका धन था, विद्या उनका सर्वस्व था। जिन कुमारों को वे बड़े स्नेह से लालते पालते थे, आठ ही वर्ष की आयु में उनको अपने से अलग कर आचार्यकुल में भेज देते थे, जिससे कि वे विद्या में पारंगत हो जाएं, और उनका जीवन धर्म के ढांचे में ढल जाए। उद्दालक ऋषि अपने पुत्र श्वेतकेतु से कहता है—

श्वेतकेतो ! वस ब्रह्मचर्यं, न वै सोम्यास्मत्कुलीनोऽननूच्य ब्रह्मबन्धुरिव भवतीति ॥ (छान्दो० उप० ६ । १ । १)

श्वेतकेतो ! जाओ ब्रह्मचर्य वास करो, क्योंकि बेटा हमारे कुल का कोई पुरुष विद्या न पढ़कर ब्रह्मबन्धु * बन जाय, यह नहीं होता।

विद्यादान में ब्राह्मणों की रुचि—विद्या दान में ब्राह्मणों की कितनी रुचि थी, यह इस से पता लगता है, कि तैत्तिरीय (१ । ४) में एक प्रार्थना और होम बतलाया गया है, जिसमें पहले अपनी शारीरिक शक्तियों के लिए और फिर धन के लिए प्रार्थना है, और फिर इस कामना से होम है, कि

---

* वह जो ब्राह्मणों को अपने बन्धु बतलाता है, पर स्वयं ब्राह्मणों के गुणों से भूषित नहीं।

मेरे पास सब ओर से बहुत २ विद्यार्थी पढ़ने के लिए आवें। इन में से पहली दो प्रार्थनाएं इसलिए हैं, कि वह पढ़ाने में समर्थ हो और विद्यार्थियों की आवश्यकताओं को पूरा कर सके। मन्त्र ये हैं—

यश्छन्दसा मृषभो विश्वरूपः। छन्दोभ्योऽध्यमृतात्‌ सम्बभूव। स मेन्द्रोमेधयास्पृणोतु। अमृतस्य देव धारणो भूयासम्‌। शरीरं मे विचर्षणम्‌। जिह्वा मे मधुमत्तमा। कर्णाभ्यां भूरि विश्रुवम्‌। ब्रह्मणा कोशोऽसि मेधया पिहितः। श्रुतं मे गोपाय। आवहन्ती वितन्वाना। कुर्वाणाऽचीरमात्मनः। वासा ᳫसि मम गावश्च। अन्नपाने च सर्वदा। ततो मे श्रियमावह। लोमशां पशुभिः सह स्वाहा। आ मा यन्तु ब्रह्मचारिणः स्वाहा। विमायन्तु ब्रह्मचारिणः स्वाहा। प्रमायन्तु ब्रह्मचारिणः स्वाहा। दमायन्तु ब्रह्मचारिणः स्वारा। शमायन्तु ब्रह्मचारिणः स्वाहा। यशोजनेऽसानि स्वाहा। श्रेयान्‌ वस्यसोऽसानि स्वाहा। तं त्वा भग प्रविशानि स्वाहा। स मा भग प्रविश स्वाहा। तस्मिन्त्स हस्रशाखे। निभगाहं त्वयि मृजे स्वाहा। यथापः प्रवता यन्ति यथा मासा अहर्जरम्‌। एवं मां ब्रह्मचारिणः। धातरायन्तु सर्वतः स्वाहा। प्रतिवेशोसि प्रमाभाहि प्रमापद्यस्व॥ (तै० १।४)

जो परमात्मा वेदों में श्रेष्ठ है, सारे रूपों वाला (सब का अधिष्ठाता) है, वह इन्द्र (मालिक) मुझे मेधा से बलवान्‌ बनाए। हे देव! मैं अमृत (वेदार्थ ज्ञान) का धारने वाला होऊँ॥ मेरा शरीर समर्थ हो। मेरी वाणी बड़ी मीठी हो। मैं कानों से बहुत सुनूं (मुझे आचार्यों से बहुत कुछ उपदेश मिले) तू मेधा से ढपा हुआ ब्रह्म का कोश (मियान) है मेरे श्रुत (आचार्यों से सुने हुए वेद) की रक्षाकर। तब मुझे वह

श्री (खुशी) लादे । जो (गौ आदि) पशुओं के साथ रोमों वाली (बहुमूल्य कम्बलों के उत्पादक भेड़ बकरी और पशुओं वाली) हो, और जो हरएक समय मेरे लिए वस्त्र और गौओं को, अन्न और पानी को लाने वाली और फैलाने वाली और झटपट अपना बनाने वाली (=खुशी के रूप में बदलने वाली) हो स्वाहा । ब्रह्मचारी (वेद के विद्यार्थी) मेरे पास आवें स्वाहा । ब्रह्मचारी सब ओर से मेरे पास आवें स्वाहा । सिधे हुए (अपने आपको वश में रखने वाले) ब्रह्मचारी मेरे पास आवें स्वाहा । मन को शान्त रखने वाले ब्रह्मचारी मेरे पास आवें स्वाहा ॥ मनुष्यों में मैं यशरूप होऊँ । स्वाहा । मैं बड़े धार्मिक श्रीमान् से श्रेष्ठ होऊं स्वाहा । मैं हे भगवन् ! तुझ में प्रवेश करता हूं स्वाहा । हे भगवन् ! तू मुझ में प्रवेश कर स्वाहा । उस तुझ में, जिसकी सहस्रों शाखाएं (शबलरूप) हैं, मैं अपने को शोधता हूं स्वाहा । जैसे जल निचाई की ओर भागते हैं, जैसे महीने बरस में लीन होते हैं, इस प्रकार हे धातः ! मुझे सब ओर से ब्रह्मचारी प्राप्त हों स्वाहा । तू विश्राम का स्थान (जायपनाह) है, मुझे चमका, मुझे अपनी शरण में ले स्वाहा ॥

ब्राह्मणों का इस कामना से यज्ञ करना, कि दूर २ से चलकर उसके पास पढ़ने के लिए विद्यार्थी आवें, विद्यादान में उनकी बहुत बड़ी रुचि का साक्षी है, जिस जाति में एक समुदाय इस प्रकार जाति की उन्नति में लगा हो, उस जाति की उत्तरोत्तर वृद्धि में कोई सन्देह नहीं होसकता । सो इस प्रकार जाति में विद्या और धर्म के प्रचार में ब्राह्मण सदा जाग्रत रहते थे ।

अब वह पुरुष, जो समाज की इन पूर्वोक्त आवश्यकताओं में से किसी को भी पूरा न करता हुआ सेवावृत्ति से जीविका करता है, वह चौथा वर्ण शूद्र कहलाता है ।

एकमेव तु शूद्रस्य प्रभुः कर्म समादिशत् । एतेषामेव वर्णानां शुश्रूषामनसूयया ॥ (मनु० १ । ९१)

असूया से रहित होकर तीनों वर्णों की सेवा करना यही एक कर्म शूद्र का परमात्मा ने बतलाया है ।

प्राचीन समय में इन चारों वर्णों में एक दूसरे के प्रति पूर्ण प्रीति होती थी । सभी सब का भला चाहते थे ।

रुचं नो धेहि ब्राह्मणेषु रुचं राजसु नस्कृधि ।
रुचं विश्येषु शूद्रेषु मयि धेहि रुचा रुचम् ॥य०१८।४८

हे अग्ने (परमात्मन्) हमारे ब्राह्मणों में तेज स्थापन कर, हमारे क्षत्रियों में तेज स्थापन कर, हमारे वैश्यों और शूद्रों में तेज स्थापन कर, मुझ में अपने तेज से तेज डाल ॥

प्रियं मा कृणु देवेषु प्रियं राजसु मा कृणु ।
प्रियं सर्वस्य पश्यत उत शूद्र उतार्ये ॥ (अ०१९।६२।१)

मुझे देवताओं में प्यारा बना, मुझे राजाओं में प्यारा बना, हां जो कोई दृष्टि रखता है, चाहे शूद्र हो वा आर्य उस सब का प्यारा बना ॥

अपने २ कर्मों की दृष्टि से इन चारों वर्णों का समाज में जो २ स्थान है, वह इस मन्त्र में बतलाया है—

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः ।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत ॥
[यजु० ३१।११; ऋ० १०।९०।१२; अथर्व० १९।६।६]

ब्राह्मण इस (विराट् पुरुष वा मानव समाज) का मुख है, क्षत्रिय भुजा हैं, वैश्य ऊरू हैं, और शूद्र पाओं हैं । इस से यह भी सिद्ध किया है, कि सारा मानव समाज मानों एक ही शरीर है । मनुष्य सारे उसी एक शरीर के भिन्न २ अङ्ग हैं । इसलिए हरएक मनुष्य का धर्म है, कि सारे समाज की रक्षा में अपनी रक्षा समझें ॥

ब्राह्मण को समाज का सिर कहने से यह अभिप्राय है, कि बुद्धि का स्थान भी सिर है । भला बुरा सोचने की शक्ति उसी में है । शेष सारे अङ्ग उसके कहने पर चलते हैं । उपदेश का काम करने वाली वाणी भी सिर में है । सो ब्राह्मण वही है, जो ज्ञान से भरपूर हो, सब को कल्याण मार्ग पर चलाए, और सत्य का उपदेश करे ॥

क्षत्रिय को भुजा कहने से यह अभिप्राय है, कि शरीर में रक्षा का काम भुजाएं ही करती है । सो क्षत्रिय वही है, जो बाह्य और आभ्यन्तर शत्रुओं से समाज की रक्षा करता है ।

और जो रानों की भांति चल फिर कर वाणिज्य व्यापार पशु पालन और खेती द्वारा समाज की सेवा करता है, वही वैश्य है । और शूद्र वही है, जो सेवा वृत्ति से अपना निर्वाह करता है ।

आदि में यह भेद कर्मों से हुआ । जैसाकि कहा है—

न विशेषोऽस्ति वर्णानां सर्वं ब्राह्ममिदं जगत् ।
ब्राह्मणा पूर्वसृष्टं हि कर्मभिर्वर्णतां गतम् ॥

[महाभारत, शान्तिपर्व १८८ । १०]

वर्णों का कोई अटल भेद नहीं, यह सारा जगत ब्रह्म का है । ब्रह्म ने आदि में रच दिया है, पीछे कर्मों से वर्णता को प्राप्त हुआ है ॥

सारे वर्णों के सांझे धर्म—अक्रोधः सत्यवचनं संवि-

भागः क्षमा तथा । प्रजनः स्वेषु दारेषु शौच मद्रोह एवं च ॥७॥
आर्जवं भृत्यभरणं नवैते सार्ववर्णिकाः ॥ ८ ॥
[महाभारत, शान्ति० अ० ६०]

क्रोधशील न होना, सत्य बोलना, कमाई का विभाग करना, (धर्म, अर्थ के कार्य्यों में यथायोग्य बांटकर व्यय करना) क्षमा, अपनी धर्मपत्नी से सन्तानोत्पादन, शौच धर्म का पालन करना, किसी से द्रोह न करना, सरलता, और पोषणीय वर्ग का भरण पोषण, यह नौ धर्म सब वर्णों के सांझे हैं।

ब्रह्म और क्षत्र—राष्ट्र का कल्याण इस में है, कि ब्रह्म बल और क्षत्र बल दोनों एक तुल्य शोभा वाले और एक दूसरे के सहायक हों—

इदं मे ब्रह्म च क्षत्रं चोभे श्रियमश्नुताम् ।
मयि देवा दधतु श्रियमुत्तमां तस्यै ते स्वाहा ॥
(यजुर्वेद ३२ । १६)

यह मेरा ब्रह्म बल और क्षत्र बल दोनों पूरी शोभा पावें, देवता मुझ में उत्तम श्री स्थापन करें, उस (श्री) के लिए सुहुत हो ॥

यत्र ब्रह्म च क्षत्रं सम्यञ्चौ चरतः सह ।
तं लोकं पुण्यं प्रज्ञेषं यत्र देवाः सहाग्निना ॥ यजु० २० । २५

जहां ब्रह्म और क्षत्र दोनों पूरे २ साथी बनकर चलते हैं, उस देश को मैं पवित्र जानता हूं, जहां देवता अग्नि के साथ हैं (द्विज सब अग्नि होत्री हैं)।

शुद्ध वैदिक मर्यादा—वेद में वर्ण शब्द बहुधा रंग के अर्थ में आया है। देखो ऋग्वेद १ । ७३ । ७ कृष्णं च वर्ण

यरुणं च सन्धुः=काला और श्वेत रङ्ग स्थापन किया। तथा अथर्व० १।२३।२ आस्वोविशतां वर्णः परा शुक्लानि पातयः=अपना असली रंग तुझ में प्रवेश करें। श्वेत धब्बों (फुलवहरी) को निकाल दूर कर, इत्यादि। हृदय के भावों के लिए भी वर्ण शब्द आया है। देखो ऋग्वेद १।१७९।६ उभौ वर्णावृषिरुग्रः पुपोष सत्यादेवेष्वाशिषो जगाम=तेजस्वी ऋषि दोनों रंगों (काम और ब्रह्मचर्य्य) को पुष्ट करता है, वह अपनी सच्ची कामनाएं देवताओं से पाता है। यह जो भावों का रंग है, इस रंग के कारण वर्णों के दो भेद हां केवल दो ही भेद वेद में बतलाए हैं—एक आर्यवर्ण और दूसरा दासवर्ण। जो स्वतन्त्र जीवी और धर्मात्मा है, वह आर्यवर्ण है। और जो परतन्त्र जीवी (सेवावृत्ति) वा दस्यु वृत्ति है, वह दास वर्ण है—

ससानात्याँ उत सूर्यं ससानेन्द्रः ससान पुरुभोज संगाम्। हिरण्यमुतभोगं ससान हत्वी दस्यून् प्रार्यं वर्णमावत् ॥ (ऋग्वेद ३।३४।९)

इन्द्र ने हमारे लिए सूर्य्य दिया है, वह घोड़े देता है, बहुत सी भोग्य वस्तुओं (दूध, दही, मलाई, मक्खन आदि) के देने वाली गौ देता है। सुवर्ण और उत्तम भोग देता है, वह दस्युओं को मारकर आर्य वर्ण की पूरी २ रक्षा करता है। (दस्यु जो धर्म कार्यों में और स्वतन्त्र जीवन में बाधक होते हैं, उनको मारकर स्वतन्त्र जीवी धर्मात्माओं की रक्षा करता है) ॥

येनेमा विश्वा च्यवना कृतानि यो दासं वर्णमधरं गुहाकः। श्वघ्नीव यो जिगीवाँलक्ष माददर्यः पुष्टानि सजनास इन्द्रः ॥ (ऋ० २।१२।४)

हे मनुष्यो ! इन्द्र वह है-जिसने इन सब भुवनों को गति शील बनाया है, जो दास वर्ण (सेवा वृत्ति वा दस्यु वृत्ति समुदाय को) नीचे गुफा में डालता है *। शिकारी की भांति लक्ष को जीत कर जो शत्रु के पुष्ट (धन धान्य) को ले लेता है॥

इनमें से पहले मन्त्र में स्वतन्त्र जीवी धर्मात्माओं का एक ही वर्ण आर्य्य बतलाया है, और दूसरे में सेवा वृत्ति वा दस्यु वृत्तियों का एक ही वर्ण दास बतलाया है।

दास वृत्ति को पाप वृत्ति मानकर ही यह प्रार्थना है—

विन इन्द्र मृधो जहि नीचा यच्छ पृतन्यतः।
यो अस्माँ अभिदासत्यधरं गमयातमः॥ (१०।१५२।४

हे इन्द्र ! हमारे शत्रुओं को मार हटा, हमारे ऊपर सेना लाने वालों को नीचा दिखला, उसको नीचे अन्धकार में डाल, जो हमें दास बनाने का यत्न करता है॥

इस प्रकार आर्य वर्ण में तो यह उच्च कामना सदा बनी रहनी चाहिये, कि वे दासवृत्ति कभी न हों। पर इतने मात्र से ही किसी को सन्तुष्ट नहीं होना चाहिये, दूसरी यह कामना साथ होनी चाहिये, कि दास वर्ण को आर्य वर्ण बनाया जाए।

ब्रह्म गामश्वं जनयन्त ओषधी र्वनस्पतीन् पृथिवीं पर्वताँ अपः। सूर्यं दिविरोहयन्तः सुदानव आर्या व्रता विसृजन्तो अधिक्षमि॥ (ऋ० १०।६५।११)

---

* सर्वं पर वशं दुःखं सर्वमात्मवशं सुखम्। एतद् विद्यात् समासेन लक्षणं सुखदुःखयोः (मनु ४।१६०) पराधीन सब दुःख है और अपने अधीन सब सुख है। यह संक्षेप से सुख और दुःख का लक्षण जाने।

वे जो अन्न गौ घोड़े ओषधि वनस्पति क्षेत्र पर्वत और जलों को उत्पन्न करते हुए, सूर्य को द्यौ में उदय करते हुए, बड़े दानी देवता सभी पृथिवी पर आर्यव्रतों को फैलाते हैं (उनसे हम धन मांगते हैं), यहां दिव्य शक्तियों का स्वभाव यह बतलाया है, कि वे लोगों को आर्यव्रतों की ओर झुकाती हैं। इससे उन के अधिष्ठाता परमात्मा का अभिप्राय यही सिद्ध होता है, कि सब लोग आर्य बनें।

आसंयतमिन्द्रणः स्वस्तिंशत्रुतूर्याय बृहतीममृध्राम्। ययादासान्यार्याणि वृत्राकरो वज्रिन् सुतुका नाहुपाणि (ऋग् ६। २२। १०)

हे इन्द्र शत्रुओं के मारने के लिए हमें संयम वाला बहुत बड़ा और सदा बना रहने वाला कल्याण दे, जिससे तू हे वज्रधारी रुकावटें डालने वाले दाससमुदायों को आर्य बनाता है, मनुष्यों के लिये वृद्धि के हेतु बना देता है।

यहां स्पष्ट ही दासों को आर्य बनाने का उपदेश है। दस्यु वृत्ति पुरुष मनुष्य की उन्नति में सदा विघ्नरूप होते हैं। और दासप्रथा में जहां दास नीचे गिरा कर पतित कर दिये जाते हैं, वहां उनको दास बनाने वाले स्वयं भी धीरे २ पतित हो जाते हैं। जिन के काम दूसरे लोग करते हैं, वे काम से जी चुराने लगते हैं, उन में से सहन शक्ति घटते २ सर्वथा दूर हो जाती है। इससे राष्ट्र की वृद्धि में वे भी दस्युओं के तुल्य ही विघ्नरूप सिद्ध होते हैं। और जहां दास आर्य बनादिये जाते हैं, वहां वे राष्ट्र की वृद्धि में विघ्नरूप होने के स्थान वृद्धि के हेतु बन जाते हैं। अतएव कहा है-" रुकावटें डालने वाले दास

समुदायों को आर्य बनाता है, मनुष्यों के लिए वृद्धि के हेतु बन देता है"।

इस प्रकार शुद्ध वैदिक मर्यादा में मुख्य दो ही वर्ण हैं, आर्य और दास। कृषि आदि जीविकामात्र हैं, क्षत्र और ब्रह्म तेज हैं। सो मुख्य आर्यजीवन तो यही है, कि जीविका चाहे कोई हो क्षत्र और ब्रह्म तेज हरएक आर्य में अवश्य होने चाहियें। यही मुख्य अभिप्राय "इदं मे ब्रह्म च क्षत्रं चोभे श्रियमश्नुताम्" का है। आगे अवान्तर भेद इस प्रकार है, कि जिस में ब्रह्मतेज की अपेक्षा क्षात्रतेज प्रधान है, वह क्षत्रिय, जिस में क्षात्रतेज की अपेक्षा ब्राह्मतेज प्रधान हो, वह ब्राह्मण, और जिस में ये दोनों तेज गौण और जीविका प्रधान हो, वह वैश्य है। पर श्लाघनीय जीवन वह है, जिस में ये दोनों तेज एक तुल्य प्रधान हों। और वृत्ति स्वतन्त्र हो, चाहे कोई हो।

कमाई (धनार्जन)

वर्णविभाग में कमाई का कुछ वर्णन आगया है, अवशिष्ट नियमों का यहां वर्णन करते हैं। प्रायः धर्मों ने धन ऐश्वर्य की निन्दा की है। क्योंकि धन और प्रभुता पाकर प्रायः लोग मदमत्त हो जाते हैं। दुर्बलों को सताते हैं, परमात्मा को भुला देते हैं।

ऐसा को जन्म्यों भव माहिं। प्रभुता पाय जास मद नाहिं॥

धनवानों की ऐसी अवस्था देखकर ही धर्माचार्यों ने धन की निन्दा की है, और वैराग्य का उपदेश दिया है। पर देखने में आता है कि धनहीनों में बहुत से अवगुण उत्पन्न हो जाते हैं। और पापाचरण भी उन में बढ़ जाता है, जैसा कि कहा है—बुभुक्षितः किं न करोति पापम्—भूखा क्या पाप नहीं करता

है। दूसरा कमाने के लिये मनुष्य में स्वाभाविक रुचि है, क्योंकि कमाई के बिना उसका निर्वाह हो ही नहीं सकता। और वृद्धि की इच्छा भी मनुष्य में स्वाभाविक है, वह रोकी जा ही नहीं सकती। अतएव जिन आचार्यों ने निरा वैराग्य का उपदेश दिया उनके भी अनुयायी इसके विरुद्ध धन ऐश्वर्य की वृद्धि में ही दिन रात लगे हुए दिखलाई देते हैं। इसलिए धर्म का सच्चा मार्ग वही है, जो मनुष्य को उसकी प्रकृति के अनुसार उन्नति के मार्ग पर डाले। इस अंश में आर्यजाति का प्राचीन धर्म ठीक ऐसा ही उपदेश देता है—

विश्वो देवस्य नेतुर्मर्तो वुरीत सख्यम्। विश्वो-राय इषुध्यति द्युम्नं वृणीत पुष्यसे (ऋग् ५। ५०।१)

हर एक मनुष्य को चाहिये, कि नेता अर्थात् सीधा मार्ग दिखलाने वाले देव की मित्रता को स्वीकार करे, हर एक ऐश्वर्य के लिये धनुष धारण करे (अर्थात् सन्नद्ध हो), और पुष्टि के लिये धन को स्वीकार करे॥

इस मन्त्र में सबसे पहली बात यह बतलाई है, कि जिस भगवान् ने धर्म का सीधा मार्ग दिखलाया है, पहले उसकी मित्रता को स्वीकार करो, तब ऐश्वर्य की ओर पाओं बढाओ। जो ऐश्वर्य से पहले ईश्वर से प्रेम सीखते हैं। एक तो ऐश्वर्य उनकी ओर अपने आप दौड़ता चला आता है, दूसरा ऐश्वर्य उनको मद नहीं चढ़ाता, अपितु अधिक विनीत बना देता है।

अग्निना रयिमश्नवत् पोषमेव दिवे दिवे। यशसं वीरवत्तमम् (ऋग् १।१।३)

(मनुष्य) अग्नि के साथ धन का उपभोग करे, जो दिन

पर दिन पुष्टिकारक ही हो यश से युक्त हो, और सब से बढ़ कर वीर (पुरुषों) वाला हो ।

इस में ये नियम बतलाए हैं—धन का उपभोग करो, न कि धन कमाने की कला बन कर औरों के लिए संग्रह करते रहो ।

"अग्नि के साथ" अर्थात् आहिताग्नि हो कर धर्म कार्यों को करता हुआ ही धन का उपभोग करे। अर्थात् धन को कमा कर धर्मकार्यों में लगाए, और उपभोग करे ।

"जो दिन पर दिन पुष्टिकारक ही हो" धन पुष्टि का हेतु है, पर धन पाकर जो लोग विषयी वा आलसी हो जाते हैं, धन उनकी दुर्बलता का हेतु बन जाता है, इसलिए कहा है, कि पुष्टि कारक ही हो' । और वह पुरुष जो अग्नि के साथ धन का उपभोग करता है, वह विषय सेवा वा आलस्य में नहीं पड़ता, अतएव उसके लिए धन सदा पुष्टि कारक ही होता है ।

"यश से युक्त हो" कई लोगों के लिये धन अपयश का कारण भी हुआ है । पर जो धर्मकार्यों में धन व्यय किया जाता है, वह धन परलोक में तो फलदायक होता ही है, लोक में भी यश का हेतु होता है ।

"सबसे बढ़ कर वीरों वाला हो" कई लोग धन ऐश्वर्य पाकर आलसी और कायर बन जाते हैं। सो तुम इस विषय में सावधान रहो, कि तुम्हारा धन ऐश्वर्य बढ़ने के साथ तुम्हारी वीरता भी बढ़े, तुम वीर पुत्र, वीर भ्राता, और वीर सेवकों से युक्त हो । धन यदि तुमने वीर बनकर पाया है, तो धन पाकर वीरवत्तम हो, वीरता में दूसरे तुम्हारी बराबरी न कर सकें, और तुम अपने ऐश्वर्य और मान की आप रक्षा कर सको ॥

अस्मान्त्सु तत्र चोदयेन्द्र राये रभस्वतः । तुविद्युम्न यशस्वतः (ऋ १ । ९ । ६)

हे प्रभूत धन वाले इन्द्र ! हम जो उद्योगशील और यश वाले हैं, उनको आप धन के लिए यथोचित कर्म में आगे बढाओ ।

" उद्योगशील " वह धन जो दबा हुआ मिला है, वा दायाद्य में मिला है, वह मनुष्य के मानसिक महत्त्व को नहीं बढाता, धन वही श्लाघनीय है, जो उद्योगशील बनकर स्वयं अपने भुजबल से कमाया है । इसलिए धन की प्राप्ति का पहला नियम यह है, कि अपनी कमाई खाओ ।

" यशवाले " दूसरा नियम यह है, कि दूसरों पर अत्याचार करके, घूस लेकर, छल करके, व्यवहार में धोखा देकर, वा टूकियां कह कर, इत्यादि अपयश दिलाने वाले कर्म से अपनी कमाई में एक पाई न मिलाओ, किन्तु सत्पथ पर चलते हुए यश वाले होकर कमाओ, अर्थात् धन के साथ यश भी कमाओ, अपयश नहीं ॥

" यथोचित कर्म में हमें आगे बढाओ' परमात्मा से हमें यही मांगना चाहिये, कि वे धन ऐश्वर्य की प्राप्ति के लिए हमें ऐसे मार्ग पर डालें, जिससे हम धनी होते हुए यशस्वी तेजस्वी और वीर्यवान् हों ।

धर्मशास्त्र आदि के उपदेश—सर्वेषामेव शौचाना-मर्थशौचं परं स्मृतम् । योऽर्थेशुचिर्हि स शुचिर्नमृद्वारिशुचिः शुचिः (मनु ५ ।)

सारी पवित्रताओं में से (कमाई) की पवित्रता सब से उत्तम मानी है, जो कमाई में पवित्र है, वह पवित्र है, मट्टी और जल

से पवित्र पवित्र नहीं। कमाई की पवित्रता यही है, कि पाप की एक कौडी भी कमाई के अन्दर न मिले।

अकृत्वा परसंतापमगत्वा खलनम्रताम्।
असंत्यज्य सतां वर्त्म यत् स्वल्पं तद्‌बैवहु॥

किसी को संताप न देकर (अर्थात् पर या स्वत्व न दबा कर, धोखा न देकर, घूंस न लेकर); दुर्जनों के आगे नम्र न होकर, और सत्पुरुषों के मार्ग को न त्याग कर जो थोडा भी है, वही बहुत है।

धर्माय यशसेऽर्थाय आत्मने स्वजनाय च।
पञ्चधाविभजन् वित्तमिहामुत्र च मोदते॥

धर्म के लिए, यश के लिए, फिर धन कमाने के लिए, अपने लिए और अपने जन (पोष्यवर्ग) के लिए, इस प्रकार कमाई को पांच भागों में बांटता हुआ पुरुष इस लोक और परलोक में आनन्द पाता है।

धन दान और उपभोग के लिए ही होना चाहिये, न कि जोड़ २ मर जाने के लिए।

निजसौख्यं निरुन्धानो यो धनार्जनमिच्छति।
परार्थभारवाहीव क्लेशस्यैव भाजनम्।

अपने सुख को रोक कर जो धन कमाता है, वह दूसरे के लिए बोझ ढोने वाले पशु के तुल्य क्लेश का ही भागी है।

दानोपभोगहीनेन धनेन धनिनो यदि।
भवामः किं न तेनैव धनेन धनिनो वयम्।

दान और उपभोग से हीन धन से वे यदि धन के स्वामी कहे जासकते हैं, तो फिर उसी धन से हम भी धन के स्वामी क्यों नहीं (स्वामी होने का इतना ही तो भेद है, कि स्वामी ही

उसको वर्तता है, दूसरा नहीं, पर जो कृपण है, वह तो वर्तता है नहीं, सो न वर्तने वाला स्वामी जैसा वह है, वैसे ही दूसरे भी हैं)।

वृत्तं यत्नेनसंरक्षेद् वित्तमेति च याति च ।
अक्षीणोवित्ततः क्षीणोवृत्ततस्तु हतो हतः ।

वृत्त (सदाचार) की यत्न से रक्षा करे, धन तो आता है और जाता है, धन से क्षीण क्षीण नहीं, पर वृत्त से गिरा हुआ तो मर ही चुका है ।

समाज में स्त्रियों का स्थान—

किसी जाति की सभ्यता का यह बड़ा भारी चिन्ह है, कि उस जाति में स्त्रियों को क्या स्थान दिया जाता है । इस विषय में हम पारिवारिक जीवन में बहुत कुछ दिखला चुके हैं, अतएव यहां सामाजिक जीवन से सम्बन्ध रखने वाली कुछ ही बातों का दिग्दर्शन करेंगे ।

विवाह सम्बन्ध—बहुतसी जातियों में विवाह वस्तुतः स्त्री का खरीद लेना था, कन्या का मूल्य उसके माता पिता को दिया जाता था । बाइबल में इसके स्पष्ट उदाहरण हैं । इस समय भी कई जातियों में ऐसा व्यवहार पाया जाता है । पर आर्य-जाति में कन्याओं का बेचना तो दूर रहा, कन्याओं को माता पिता और भाइयों की ओर से अवश्य कुछ दिया जाता था । सूर्य की पुत्री सूर्या (प्रभा) का जो अलंकार से चन्द्र के साथ विवाह वर्णन किया है, उस में आया है—

सूर्यायावहतुः प्रागात्सवितायमवासृजत् (ऋग् १० । ८५ । १३ ; अथर्व १४ । १ । १३)

दहेज सूर्या के आगे २ चला जो सविता ने उसे दिया।

वर पक्ष में कुछ लेकर कन्या देना आर्यजगति में घृणा की दृष्टि से देखा जाता रहा है। अतएव आर्यजाति में कन्यादान माना गया, और कुछ लेकर कन्या देने का नाम घृणादृष्टि से अपत्यविक्रय (सन्तान का वेचना) रक्खा गया। और इस पवित्र भाव ने यहां तक वल पकड़ा, कि कन्या के घर का अन्न जल भी माता पिता पाप समझने लगे, वल्कि उस ग्राम वा नगर के अन्न जल को भी त्यागने लगे, पर यह भाव प्राचीन नहीं है, प्राचीन आर्यभाव यही है, कि वर से कुछ लिया नहीं जाता था।

प्रश्न-मनुस्मृति में जो आठ प्रकार के विवाह कहे हैं, उन में आर्ष और आसुर विवाहों में वर से लेना भी लिखा है ?

उत्तर-आर्ष विवाह में जो वर से लेना लिखा है, वह कुछ भी देने को असमर्थ माता पिता के लिए कन्या को ही देने के लिए कहा है-जैसे

एकं गोमिथुनंद्वेवा वरादादाय धर्मतः। कन्याप्रदानं विधिवदार्षो धर्मः स उच्यते (मनु ३। २९)

एक वा दो गोमिथुन (गौ वैल के जोड़े) वर से धर्मार्थ लेकर जो यथा विधि कन्या का दान है, वह आर्ष धर्म कहलाता है॥ यहां जो धर्मार्थ शब्द कहा है, इस से स्पष्ट कर दिया है, कि अग्निहोत्र आदि धर्मकार्यों को पूरा करने के अर्थ कन्या को ही देने के लिए लेना है, न कि अपने पास रखने के लिए जैसा कि आगे चलकर स्पष्ट कर दिया है-

आर्षेगोमिथुनं शुल्कंकेचिदाहुर्मृषैवतत्। अल्पोप्येवं महान्वापिविक्रयस्तावदेवसः (मनु० ३। ५३)

यासां नाददते शुल्कं ज्ञातयो न स विक्रयः ।
अर्हणं तत् कुमारीणामानृशंस्यं च केवलम् ५४ ।

कई लोग आर्ष विवाह में गो मिथुन को शुल्क बतलाते हैं, पर यह झूठ ही है, इस तरह (शुल्क लेना) चाहे थोड़ा वा बहुत हो वह कन्या का बेचना ही है ॥ ५३ ॥] हां जिनका शुल्क उनके बन्धु नहीं लेते, वह बेचना नहीं है, वह कुमारियों की पूजा है, और निरी अनुकम्पा है ॥ ५४ ॥

तात्पर्य्य यह है, कि आर्ष विवाह में गौओं का जोड़ा जो वर देता है, वह पिता अपने लिए नहीं लेता, किन्तु कन्या को ही देने के लिए लेता है, जिससे कि उनके यज्ञादि धर्मकार्य्य न रुकें। क्योंकि यह स्त्रीधन होजाता है, उसे कोई ले नहीं सकता, पति भी नहीं । और उस गौ जोड़े की जो आगे सन्तति होती है,वह भी स्त्रीधन ही होता है। उनको पति तंगी में भी बेच नहीं सकता, अतएव तंगी में भी उनके यज्ञादि कर्म नहीं रुकते, यही कन्या की पूजा है, और उसके घर में दूध दही सदा बना रहे, यह अनुकम्पा भी है। जो इसको शुल्क समझते हैं, वे भ्रान्त हैं, यह शुल्क नहीं, शुल्क चाहे कितना ही थोड़ा हो, वह बेचना ही है, जो कि निषिद्ध है ॥

आसुर विवाह में जो लेना लिखा है, वह धर्म शास्त्रों में असुरों में प्रचलित मर्य्यादा बतलाई है—

ज्ञातिभ्योद्रविणं दत्त्वा कन्यायै चैव शक्तितः ।
कन्याप्रदानं स्वाच्छन्द्यादासुरो धर्म उच्यते॥ (मनु० ३।३१)

कन्या के ज्ञातियों (पिता आदि) को और कन्या को यथा शक्ति धन दे कर अपनी इच्छा से कन्या का लेना असुरों की मर्यादा कहलाती है (यह मर्यादा असुरों में प्रचलित थी,

आर्य्य राजाओं ने उनकी विवाह मर्यादा को उनके लिए धर्म ठहराया)। महाभारत के समय मद्रों में भी यह मर्यादा प्रचलित थी, जैसाकि माद्री के भाई शल्य ने भीष्म से कुछ शुल्क मांग लिया था। पर वहां भी मद्रेश का इस मर्यादा को संकोच के साथ अपना ही कुलाचार बतलाना स्पष्ट करता है, कि यह मर्यादा आर्य्यों में घृणा की दृष्टि से ही देखी जाती थी। अतएव मद्रों में यह मर्यादा या तो अनार्य्यों के संसर्ग से आई होगी या मद्र पीछे से आर्य्य बने होंगे, और यह मर्यादा उन की पहले की होगी ॥

आदर सन्मान—आर्य्य जाति में स्त्रियों का बहुत बड़ा आदर सम्मान था, इसका सविस्तर वर्णन पूर्व "गृहाश्रम में प्रवेश" प्रकरण में लिख आए हैं, वहीं से देख लेना चाहिये।

दम्पति प्रेम—यह विषय भी उसी प्रकरण में आचुका है। आर्य्य जाति में पत्नी पति की अर्धाङ्गिनी समझी जाती है। मानों दोनों एकरूप हैं। अतएव पति के सम्बन्धियों को पत्नी उसी सम्बन्ध से पुकारती है, जो सम्बन्ध पति का उन से होता है, और इसी प्रकार पत्नी के सम्बन्धियों को पति उसी सम्बन्ध से पुकारता है ॥

घर में अधिकार—कई जातियों में पत्नी को दासी माना जाता रहा है। उन जातियों में पत्नी का घर में कोई अधिकार नहीं होता था। पर आर्य्य धर्म में पत्नी पुरुष की दासी नहीं, किन्तु अर्धाङ्गिनी है, अतएव घर की स्वामिनी भी है। इसी लिए तो पति पत्नी को दम्पती कहते हैं। दम वेद में घर का नाम है। दम्पती=घर के दो मालिक। जैसे पति मालिक है,

वैसे पत्नी पालिक है। इसी लिए विवाह के अनन्तर वधू के प्रयाण के समय जो मन्त्र पढ़ा जाता है, उस में आया है—

"गृहान् गच्छ गृहपत्नी यथाऽसः" (ऋ० १०।८५।२६)

पति के घरों की ओर चल, जिससे तू घर की स्वामिनी बने॥

पुरुष का कर्तव्य—स्त्री का पालन पोषण पुरुष का कर्तव्य है। जैसा कि पूर्व 'ममेयमस्तु पोष्या' यह स्त्री मुझसे पोषणीय होगी (ऋग् १०।८५।५२) इस प्रमाण से दिखला आए हैं।

कई जातियों में स्त्रियां कमाती हैं और पुरुष खाते हैं, वेद में इस कर्म को निन्दित बतलाया है—

अश्रीरा तनूर्भवति रुशती पापयाऽमुया।
पतिर्यद्वध्वो वाससा स्वमङ्गमभिधित्सते॥
(ऋग् १०।८५।३०)

इस पाप कर्म से शरीर श्रीहीन होजाता है, जब पति वधू के वस्त्र से अपने अंग को ढांपता है (वस्त्र उपलक्षण है, अर्थात् वधू की कमाई बर्तता है, वा स्त्री धन को बर्तता है)

स्त्री का कर्तव्य—घर के कार्यों को संभालना, पति के अनुकूल चलना, बड़ों की सेवा शुश्रूषा और सन्तान का पालन पोषण ये स्त्री के धर्म पूर्व दिखला आए हैं।

विवाह का समय—यौवनावस्था है, जैसा कि पूर्व 'ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम्' इस प्रमाण से दिखला आए हैं।

वर वधू के चुननेमें अधिकार-योग्य कन्याओं को स्वयंवर का पूरा अधिकार था—

भद्रा वधूर्भवति यत् सुपेशाः स्वयं सा मित्रंवनु-
ते जनेचित् । (ऋग् १०।२७।१२)

रूपवती गुणवती जो वधू होती है, वह स्वयं लोगों में अपने मित्र को चुन लेती है।

पर प्रायः माता पिता को ही अधिकार होता था, क्योंकि अधिक अनुभवी होने के कारण वे सारी बातों पर दृष्टि डाल सकते हैं, हां वर वधू की सम्मति भी उसमें आवश्यक समझते थे। जैसा कि सूर्या के विवाह में कहा है—

सोमो वधूयुरभवदश्विनास्तामुभा वरा।
सूर्यां यत् पत्ये शंसन्तीं मनसा सविता ददात्॥
(ऋग् १०।८५।९)

सोम वधू की कामना वाला था, दोनों अश्वि उसके लिये चुनने वाले थे, जब कि पति की कामना करती हुई सूर्या को सविता ने मनसे दिया (देने का संकल्प किया)।

सामाजिक कार्यों में योग देना-घर के कार्यों में तो हर एक आर्य-नारी योग दिया ही करती थी, किन्तु सामाजिक कार्यों में भाग लेने की भी उन्हें कोई रुकावट न थी, अतएव आर्य नारियां सामाजिक कार्यों में भी योग देती रही हैं। वैदिक ऋषियों में हम सूर्या वाक्, लोपामुद्रा आदि स्त्रियों के भी नाम पाते हैं, जो ऋषिका कहलाती हैं। बृहदारण्यक ४।५ में याज्ञवल्क्य और मैत्रेयी का संवाद, तथा जनक की सभा में याज्ञवल्क्य के साथ गार्गी का संवाद (बृह० ३।८) और महाभारत में जनक के साथ सुलभा का संवाद आर्य नारियों के विद्या महत्त्व के साक्षी हैं। और कैकेयी का युद्ध में दशरथ

के साथ जाना और उसके प्राण बचाना आदि उनके वीर-कर्मों के साक्षी हैं।

कन्याओं का आदर और दायभाग।

कन्याओं के सम्मान और पालन पोषण की और दाय-भाग की जो मूल मर्यादा आर्य्य-धर्म में है, वह बहुत ही सभ्य मर्यादा है। जैसा—

शासद् वन्हिर्दुहितुर्नप्त्यं गाद् विद्वाँ ऋतस्य दीधितिं सपर्यन्। पिता यत्र दुहितुः सेकमृञ्जन्त्सं शग्म्येन मनसा दधन्वे॥ (ऋग्वेद ३।३१।१)

ऋत (सच्चे नियम) की किरण को पूजता हुआ, पिता बतलाकर वा मन में जानकर कन्या से पोते को प्राप्त होता है। जहां कि पिता कन्या के युवा पति को थापता है, तो सुखी मन से निश्चिन्त होजाता है (आशय यह है, कि पुत्रहीन पिता चाहे मुख से कहे, वा मन में रक्खे, पर वह अपनी कन्या के पहले पुत्र को अपने पोते के तौर पर पासकता है, उसका यह स्वत्व सच्चे नियम की पूजा से है। सच्चा नियम यही है, कि जैसे पुत्र वैसे पुत्री। इसलिए पिता जब मन में जामाता को थाप लेता है, तो अपने वंश की स्थिति के विषय में निश्चिन्त हो जाता है। इस मन्त्र में पुत्रहीन पिता को पुत्री का पहला पुत्र अपना पोता बनाने का अधिकार दिया है; और इस में युक्ति यह है, कि यह सच्चे नियम की पूजा है, इस से पुत्र और पुत्री में अभेद दिखला दिया है। दोनों एक तुल्य पालन पोषण के योग्य हैं। इनके पालन पोषण और रक्षा में भेद करना सच्चे नियम का उल्लङ्घन है॥

इस प्रकार अभेद दिखलाकर जिस अंश में भेद है, वह भी दिखलाते हैं—

न जामये तान्वोरिक्थमारैक् चकार गर्भं सनितुर्निधानम्। यदी मातरो जनयन्त वन्हिं मन्यः कर्ता सुकृतोरन्य ऋन्धन् ॥ २ ॥

पुत्र बहिन के लिए दाय नहीं देता है, क्योंकि उसको वह विवाहने वाले का वंश बढ़ाने वाली बनाता है। यद्यपि माता (पुत्र पुत्री रूप से) एक जैसा तेज उत्पन्न करते हैं, तथापि इन उत्तम जोड़ी (बहिन भाई) में से एक (=पुत्र) वंश का बढ़ाने वाला होता है, दूसरा (=पुत्री) पाला पोसा जाता है (अर्थात् पाल पोस कर दे दिया जाता है)॥

यहां दो बातें बतलाई हैं, एक तो यह कि भाई के होते दाय में बहिन का स्वत्व नहीं होता, क्योंकि वह दूसरे वंश को जाकर बढ़ाती है। दूसरा यह कि भाई पिता के धन में से कुमारी बहिन का विवाह अवश्य करदे। सो व्यवस्था यह है, कि पुत्र के अभाव में पुत्री धन लेवे, पुत्र के होते हुए पुत्र ही लेवे॥

पुत्रैषणा मनुष्य में इतनी प्रबल होजाती है, कि पुत्र के न होने पर मनुष्य दत्तक क्रीतक आदि पुत्र बनाता है। इस अज्ञान को दूर करते हुए बतलाया है—

परिषद्यं ह्यरणस्य रेक्णो नित्यस्य रायः पतयः स्याम। न शेषो अग्ने अन्यजातमस्त्यचेतानस्य मा पथो विदुक्षः॥ (ऋग्वेद ७।४।७)

बेगाना धन त्याज्य होता है, सो हम मुख्य धन के स्वामी

हो, हे अग्ने ! दूसरे से उत्पन्न हुई सन्तान (अपनी) नहीं होती है, हमें बेसमझ के मार्ग से मत चला ।

इसमें बेगाने धन को त्याज्य दिखलाया है, और फिर इस दृष्टान्त से बेगाने पुत्र को भी बेगाने धन की नाईं त्याज्य बतलाया है—

नहि ग्रभायारणः सुशेवोऽन्योदर्यो मनसा मन्तवाउ । अधाचिदोकः पुनरित्सएत्यानो वाज्य-भिषांडेतु नव्यः ॥ ८ ॥

बेगाना (पुत्रत्वेन) ग्रहण योग्य नहीं, चाहे बड़ा सुख-दायी भी हो, दूसरे के उदर से (न कि अपनी स्त्री के उदर से) आया हुआ मन से भी अपना नहीं मानना चाहिये । क्योंकि वह फिर भी अपने निवास को जाता है (अपने वंश में जा मिलता है), सो हमें बलवान् शत्रुओं को दबाने वाला नया उत्पन्न हुआ पुत्र प्राप्त हो ॥

स्वास्थ्य रक्षा और चिकित्सा ।

कोई भी समाज निरा धन सम्पदा की वृद्धि से ही सुखी नहीं होसकता, जब तक कि उसमें स्वास्थ्यरक्षा और रोगों की चिकित्सा का पूरा प्रबन्ध न हो । आर्यधर्म ने सामाजिक आवश्यकता वा समाजसेवा के इस लक्ष्य की ओर भी पूर्ण दृष्टि दिलाई है । आरोग्यरक्षा के लिए जैसे घरों का होना आवश्यक है, वह ' आर्य गृह ' प्रकरण में लिख आए हैं । इससे अतिरिक्त स्वास्थ्यरक्षा पर बहुत बड़ा प्रभाव जल वायु की शुद्धि और शौच का है । आर्यधर्म में इन सब बातों की ओर पूरी दृष्टि दिलाई गई है । जल के विषय में कहा है—

आपो अस्मान् मातरः शुन्धयन्तु घृतेन नो घृतप्वः पुनन्तु । विश्वं हि रिप्रं प्रवहन्ती देवी रुदिदाभ्यः शुचिरापूत एमि ॥(ऋग् १०।१७।१०; यजु ४।२)

(वृष्टि के और नदियों के) प्रवाह रूपी माताएं हमें पवित्र करें, बहते या झरते हुए जल से पवित्र करने वाली हमें पवित्र करें। ये देवियें (दिव्यप्रवाह) सारी बुराइयों (मलों और रोगों को) बहा ले जाती हैं, मैं शुद्ध पवित्र हुआ इन से बाहर आता हूं।

वृष्टि जल और नदियों के प्रवाह स्वभावतः दिव्य होते हैं, ऐसे दिव्य जलों में स्नान करने से मनुष्य के मल और रोग दूर होते हैं, और मनमें उज्वल भाव उत्पन्न होते हैं।

श्वात्राः पीता भवत यूयमापो अस्माकमन्त-रुदरे सुशेवाः । ता अस्मभ्यमयक्ष्मा अनमीवा अनागसः स्वदन्तु देवीरमृता ऋतावृधः॥(यजु ४।१२)

हे जलो पिये जाकर हमारे उदर में फुर्ती देने वाले और आरोग्य देने वाले बनो, हमारे लिए यक्ष्मा (छाती के रोगों) से रहित, रोगों से रहित, दोषों (दुर्बलता आदि) से रहित हुए, ऋत (उन्नति के मार्ग) को वृद्धि देते हुए दिव्य अमृत जल हमारे लिए स्वादु हों।

अशुद्ध जल रोगों के उत्पादक होते हैं, दिव्य जल अमृत होते हैं, जो रोगों से और अपमृत्यु से बचाते हैं, इसलिए पीने के लिए सदा दिव्य अमृत जल ही वर्तने चाहिये।

पशुओं के लिए भी शुद्ध जल की ही आवश्यकता है, जैसे

प्रजावतीः सूयवसं रिशन्तीः शुद्धा अपः

सुप्रपाणे पिबन्तीः । मा वः स्तेन ईशत माघशंसः परि वो हेती रुद्रस्य वृज्याः ॥ (ऋग् ६।२८।७)

गौओ तुम प्रजावती (बछड़ों से युक्त) होवो, उत्तम चारा खाओ, अच्छे जलाशय में शुद्ध जल पियो, चोर वा हिंसक तुम पर वश न पासके, रुद्र का शस्त्र (मारी वा रोग) तुम्हें छोड़ दे।

इस प्रकार सारे कार्यों में शुद्ध जलों का प्रयोग और उपयोग दिखलाया है। और स्नान, जो स्वास्थ्यरक्षा के लिए बड़ा उपयोगी है, उसका स्पष्ट विधान है। अतएव स्नान और शौच का नियम जैसा आर्यजाति में पाया जाता है, वैसा अन्य किसी जाति में नहीं।

शुद्ध वायु का सेवन और उस के गुण

वात आवातु भेषजं शंभु मयोभु नो हृदे। प्रण आयूंषि तारिषत् ॥ (ऋग् १०।१८६।१)

वात हमारे लिए औषध बन कर हमारी ओर बहे, हमारे हृदय के लिए शान्ति और सुख का उत्पादक हो, और हमारी आयु को बढ़ाए।

यददो वात ते गृहेऽमृतस्यनिधिर्हितः । ततो नो देहि जीवसे ॥३॥

हे वात जो वह तेरे घर में अमृत का निधि रक्खा हुआ है, उस से हमारे जीवन के लिए दे ॥

यह तो है शुद्ध जल वायु के महत्त्व और सेवन का वर्णन अब चिकित्सा के मूल मन्त्र ये हैं—

शतं वो अम्ब धामानि सहस्र मुत वो रुहः ।
अधा शतक्रत्वो यूय मिमं मे अगदं कृत ॥
(ऋग् १० । ९७ । २; यजु० १२ । ७६)

हे माता (मातृवत् उपकार करने वाली) ओषधियो ! अनेक तुम्हारे स्थान हैं, और अनेकों तुम्हारे जातिभेद हैं, तुम जो कि सैकड़ों शक्तियां वालियां हों,मेरे इस (रोगी) को रोग रहित करो।

यहां माता कहने से ओषधियों का मनुष्य के लिए परम उपकारी होना वतलाया है। अनेक स्थान कहने से चिकित्स-कों के लिए स्थान २ की ओषधियों के गुण जानने की प्रेरणा की है। अनेक जाति भेद कहने से सब प्रकार की ओषधियों के गुण जानने की आवश्यकता वतलाई है। सैंकड़ों शक्तियां वालियां कहने से एक २ ओषधि में अनेक रोगों को दूर करने की शक्ति वतलाई है। जब इन ओषधिओं में बड़ी शक्तियां हैं, और माता की नाई उपकार करने वाली हैं तो इन के प्रयोग से रोगी का नीरोग होना अवश्यम्भावी फल है, अत एव अन्त में कहा है ' मेरे इस रोगी को रोगरहित करो '

वैद्य कैसा होना चाहिये, इस विषय में वेद शिक्षा देता है–

यत्रौषधीः समग्मत राजानः समिताविव ।
विप्रः स उच्यते भिषग् रक्षो हाऽमीव चातनः ॥
(ऋग् १० । ९७ । ६७ यजु १२ । ८०)

जहां ओषधियें संग्राम में क्षत्रियों की तरह (रोग के विरुद्ध) संगत हो (कर लड-) ती हैं, वहां वह विद्वान् वैद्य कह-लाने का अधिकार रखता है, जो (उनओषधियों से) राक्षसों (रोग के कृमियों) को मार कर रोग को जड मूल से उखाड़ देता है।

ओषधयः संवदन्ते सोमेन सह राज्ञा।
यस्मै कृणोति ब्राह्मणस्तं राजन् पारयामासि ॥
(ऋग् १०।९७।२२; यजु० १२।९६)

ओषधियें (अपने) राजा सोम के साथ यह संवाद करती हैं, कि जिसके लिए ब्राह्मण (पूरा विद्वान् वैद्य) चिकित्सा करता है, उस को हे राजन् हम (रोगके) पार पहुंचाती हैं।

यदिमा वाजयन्नहमोषधी र्हस्त आदधे।
आत्मा यक्ष्मस्य नश्यति पुरा जीवगृभो यथा ॥
(ऋग् १०।९७।११; यजु १२।८५)

जब मैं (रोगी के नष्ट हुए) बल को लौटाता हुआ इन ओषधिओं को हाथ में लेता हूं, तो रोगका आत्मा पहले ही नष्ट-प्राय हो जाता है, मानो कि मृत्यु से पकड़ा गया है। (अर्थात् वैद्य अपने ऊपर इतना बड़ा भरोसा रखने वाला होना चाहिये, कि वह रोग को अवश्य दूर कर देगा)।

ओषधियों का सामर्थ्य—वैदिक शिक्षा यही है, कि ओषधियों का प्रयोग यथार्थ हो,तो फिर कोई रोग असाध्य नहीं हो सकता है—

अवपतन्तीरवदन् दिव ओषधयस्परि। यं जीव-मश्नवामहै न स रिष्याति पूरुषः ॥ (ऋ०१०।९७।१७)

द्यौ से नीचे गिरती हुई ओषधिओं ने घोषणा दी, कि जिस जीते हुए को हम जा पहुंचेंगी, वह पुरुष नहीं मरेगा।

यस्यौषधीः प्रसर्पथाङ्गमङ्गं परुष्परुः। ततो यक्ष्मं विबाधध्व उग्रो मध्यमशीरिव ॥
(ऋ. १०।९७।१२ यजु १२।८६)

हे ओषधियो ? तुम जिसके अंग २ और पर्व २ में धस जाती हो, उस २ से रोग को इस तरह मार भगाती हो, जैसे दलों के मारने वाला वीर क्षत्रिय (शत्रुओं को मार भगाता है)।

याः फलिनी र्या अफला अपुष्पा यश्च पुष्पिणीः। बृहस्पतिप्रसूतास्ता नो मुञ्चन्त्वं हसः॥
(ऋग् १०।९७।१५ यजु १२।८२)

जो ओषधियें फल वाली हैं, जो फल हीन हैं, जो पुष्पों वाली हैं; जो पुष्पों से हीन हैं, वे बृहस्पति से प्रेरी हुई हमें रोगसे छुड़ावें।

फल वाली फलहीन पुष्पवाली पुष्प हीन कहने का यह अभिप्राय है, कि फल पुष्प पत्र आदि स्वयं भी औषध हैं।

मा वो रिषत् खनिता यस्मै चाहं खनामि वः। द्विपच्चतुष्पदस्माकं सर्वमस्त्वनातुरम्॥
(ऋग् १०।९७।२० यजु १२।९५)

(हे ओषधियो! न तुम्हारा उखाड़ने वाला हानि उठाए, और न वह जिस के लिए तुम्हें उखाडता हूं, (तुम्हारे प्रयोग से) हमारे पशु और मनुष्य सब नीरोग हों॥ इसमें पशु चिकित्सा का भी उपदेश दिया है।

आज कल के बढ़े चढ़े विज्ञान ने यह सिद्ध कर दिखलाया है, कि प्रायः रोगों के सूक्ष्म कृमि होते हैं, जो मनुष्यों के शरीर में प्रवेश करके अपनी सन्तति को बढा कर मनुष्यों के लिए रोग और मृत्यु का हेतु होते हैं, और ऐसे कृमि भी हैं, जो इन विषैले कृमियों को मनुष्य के शरीर में प्रवेश करवाते हैं, तथा और भी जो विषैले कृमि ओषधियों फलों

फूलों में उत्पन्न होकर मनुष्य के लिए हानिकारक बनते हैं, इन सब प्रकार के कृमियों का नाश करने से ही समाज सुखी रह सकता है, विज्ञान की इस अभिनव खोज का वेद में स्पष्ट उपदेश पाया जाता है—

ये क्रिमयः पर्वतेषु वनेष्वोषधीषु पशुष्वप्स्वन्तः। ये अस्माकं तन्वमाविविशुः सर्वं तद्धन्मि जनिम क्रिमीणाम् ॥ (अथर्व २। ३१। ५)

जो कृमि पर्वतों, वनों, ओषधियों, पशुओं और जलों के अन्दर हैं, जो हमारे शरीर में (व्रण द्वारा वा अन्नपानादिद्वारा) प्रवेश करजाते हैं, उन कृमियों की सारी जातियों का मैं नाश करता हूं ॥

हतासो अस्य वेशसो हतासः परिवेशसः।
अथो ये क्षुल्लका इव सर्वे ते क्रिमयो हताः ॥
(अथर्व २। ३२। ५)

इन के मुख्य और गौण अड्डे सारे नाश कर दिये गये हैं, हां जो अत्यन्त सूक्ष्म से कृमि हैं, वे सारे नष्ट कर दिये गए हैं।

यो अक्ष्यौ परिसर्पति यो नासे परिसर्पति।
दतां यो मध्यं गच्छति तं क्रिमिं जम्भयामसि ॥
(अथर्व ५। २३। ३)

जो आंखों में रींगता है, जो नासों में रींगता है, जो दांतों के मध्य में जाता है, उस कृमि को नाश करते हैं।

रोगों के कृमि प्रायः वहीं जन्मते पलते हैं, जहां सूर्य का प्रकाश नहीं पहुंचता, सूर्य इन का नाशक है, यह बात भी स्पष्ट कर दी गई है—

उत् पुरस्तात् सूर्य एति विश्वदृष्टो अदृष्टहा ।
दृष्टांश्च घ्नन्नदृष्टांश्च सर्वांश्च प्रमृणन् क्रिमीन् ॥
(अथर्व ५ । २३ । ६)

पूर्व में सूर्य उदय होता है, जो सब से देखा जाता है, पर वह ऐसे दोषों को दूर करता है, जो देखने में नहीं आते, वह उन सब कृमियों को मारता और सर्वथा नाश करता है, जो दृष्ट हैं और अदृष्ट हैं—

उद्यन्नादित्यः क्रिमीन् हन्तु निम्रोचन् हन्तु रश्मिभिः । ये अन्तः क्रिमयो गवि॥(अथर्व २।३२।१)

उदय होता हुआ और अस्त होता हुआ सूर्य रश्मियों से उन कृमियों को नाश करे, जो भूमि के अन्दर हैं।

ये औषधि चिकित्सा के मूल मन्त्र हैं। भिन्न २ रोगों के भिन्न २ औषध भी वेदमें बतलाए गए हैं। इसका विस्तार आयुर्वैदिक ग्रन्थों में पूरा २ किया गया है। जलचिकित्सा के भी मूल मन्त्र स्पष्ट हैं। जैसे—

शन्नोदेवी रभिष्टय आपो भवन्तु पीतये ।
शंयोरभि स्रवन्तु नः ॥ (ऋग्वेद १० । ९ । ४) ॥

दिव्य जल हमारे स्नान और पान के लिए कल्याणकारी हों, और हमारे लिए स्वास्थ्य और अरोगता का प्रवाह बहाएं (यहां जलों में दो शक्तियां बतलाई हैं, स्वास्थ्य की रक्षा करना और रोग की निवृत्ति करना) ॥

ईशाना वार्याणां क्षयन्तीश्चर्षणीनाम् ।
अपो याचामि भेजषम् ॥ ५ ॥

बहुमूल्य वस्तुओं (स्वास्थ्य और उत्तम भावों) पर

शासन करने वाले और मनुष्यों पर ईशान करने वाले जलों से मैं रोग निवृत्ति चाहता हूं ।

अप्सु मे सोमो अब्रवीदन्तर्विश्वानि भेषजा ।
अग्निं च विश्वशम्भुवम् ॥ ६ ॥

ओषधियों के राजा सोम ने मुझे बतलाया है, (यह ज्ञान दिया है) कि जलों के अन्दर सब प्रकार के घाव भरने के सामर्थ्य हैं, और सब सुखों का देने वाला अग्नि है । तात्पर्य यह है, कि जलों के प्रयोग से सब रोग दूर होसकते हैं और सब प्रकार के घाव अच्छे होसकते हैं, और जलों के द्वारा (वाष्प आदि से) सेवन किया अग्नि सब प्रकार की अरोगता देता है ।

आपः पृणीत भेषजं वरूथं तन्वे मम ।
ज्योक् च सूर्यं दृशे ॥ ६ ॥

हे जलो कवचवत् शरीर के रक्षक औषध को मेरे शरीर में भरो, जिससे कि मैं चिरकाल सूर्य के दर्शन करूं (दीर्घ जीवी होऊं) ॥

आपो अद्यान्वा चारिषं रसेन समगस्महि ।
पयस्वानग्न आगहि तं मा संसृज वर्चसा ॥ ९ ॥

मैं ने जलों का प्रयोग किया है और रस (जलों की शक्ति) से संयुक्त हुआ हूं, हे जलों वाले अग्नि आओ और मुझे तेज से युक्त करो ॥

अप्स्वन्तरमृतमप्सु भेषजमपामुतप्रशस्तये ।
देवा भवत वाजिनः ॥ (ऋग्वेद १ । २३ । १९)

जलों के अन्दर अमृत है, जलों के अन्दर औषध है, सो जलों की उत्तमता के लिए हे विद्वानों * वेग वाले बनो।

अमृत=मृत्यु से बचाने की शक्ति। जलों के अन्दर औषध है, जलों के उचित प्रयोग से तुम रोगों को जीत सकते हो, इसलिए अपने वर्तने के जलों को सदा उत्तम बनाए रक्खो।

इस प्रकार इन मन्त्रों में जलचिकित्सा की ओर स्पष्ट प्रेरणा है॥

—०—

वाग्व्यवहार।

समाज के सारे कार्यों का निर्भर वाग्व्यवहार पर है, इसलिए वाग्व्यवहार के ऐसे नियमों का ज्ञान हर एक सामाजिक के लिए आवश्यक है, जो समाज के सुख और वृद्धि का हेतु हो। सामाजिक धर्म की इस आवश्यकता को भी वैदिक धर्म पूरा स्पष्ट करदेता है—

वाणी की शक्ति } पावका नः सरस्वती वाजेभिर्वाजिनी वती। यज्ञं वष्टु धिया वसुः (ऋ०१।३।१०)

विद्यारूपी धनमें अमीर, बहुत बड़ी शक्तियों वाली पवित्र करने वाली सरस्वती हमारे यज्ञ (शुद्धवाग्व्यवहार) को प्यार करे।

चोदयित्री सूनृतानां चेतन्ती सुमतीनाम्।
यज्ञं दधे सरस्वती ॥११॥

सच्ची और मीठी वाणियों के प्रेरने वाली सुमतियों के प्रकाश करने वाली सरस्वती ही यज्ञ (समाज के सारे वाग्व्यवहार) को थामे हुए हैं॥

---

* "एते वै देवाः प्रत्यक्षं यद् ब्राह्मणाः, (तै० सं० १। ७।३) ये प्रत्यक्ष देवता हैं जो ब्राह्मण हैं।

महो अर्णः सरस्वती प्रचेतयति केतुना । धियो विश्व विराजति ॥ १२ ॥

सरस्वती अपनी ज्ञानप्रद शक्ति से बड़े समुद्र को प्रकाशित कर देती है (बडे २ गहरे प्रश्नों को स्पष्ट कर देती है) और सब प्रकार के ज्ञानों को चमकाती है ।

इन मन्त्रों में वाणी की उस महती शक्ति का वर्णन है, जिससे मनुष्य ने विद्या और सभ्यता में बहुत बड़ी उन्नति की है । अब वाग्व्यवहार के भिन्न २ अंशों का वर्णन करते हैं—

सचाई { अग्ने व्रतपते व्रतं चरिष्यामि तच्छकेयं तन्मे राध्यताम् । इदमहमनृतात् सत्यमुपैमि (यजु १ । ५)

हे व्रत के स्वामी अग्ने मैं व्रत का आचरण करूंगा, (तेरी सहायता से) उसको मैं कर सकूं, वह मेरा सफल हो, यह मैं झूठ से (निकल कर) सत्य को प्राप्त होता हूं ।

दृष्ट्वा रूपे व्याकरोत् सत्यानृते प्रजापतिः । अश्रद्धा मनृते दधाच्छ्रद्धाꣳ सत्ये प्रजापतिः (यजु १९ । ७)

प्रजापति ने देखकर सत्य और झूठ इन दोनों रूपों को अलग किया, और झूठ के लिए (मनुष्य के हृदय में) अश्रद्धा डालदी और सत्य के लिए प्रजापति ने श्रद्धा डालदी ।

सचाई पर श्रद्धा मनुष्य के स्वभाव में है, अतएव जो इस के विपरीत चलता है, वह अपने आपको गिराता है ।

सुविज्ञानं चिकितुषे जनाय सच्चासच्च वचसी पस्पृधाते। तयोर्यत् सत्यं यतरदृजीयस्तादित् सोमोऽवातिहन्त्यासत् (ऋ ७।१०४।१२; अथर्व ८।४।१२)

एक विद्वान् पुरुष इस बात को अच्छी तरह जानता है, कि झूठा और सच्चा वाक्य आपस में स्पर्धा करते हैं, इन दोनों में से जो सच है, जो अधिक सरल (वाक्य) है, सोम (परमात्मा) उसी की रक्षा करता है, और जो झूठ है, उसका नाश करता है॥

यहां सचाई के साथ सरल कहने का अभिप्राय यह है, कि सचाई भी केवल शब्दों में सचाई न हो, अपितु छल कपट से रहित सत्य हो। जैसा कि कहा है—

न सा सभा यत्र न सन्ति वृद्धा वृद्धा न ते ये न वदन्ति धर्मम्।
नासौ धर्मो यत्र न सत्यमस्ति सत्यं न तत् यच्छलमभ्युपैति॥

वह सभा नहीं, जिस में वृद्ध नहीं, वे वृद्ध नहीं, जो धर्म नहीं कहते, वह धर्म नहीं, जिस में सचाई नहीं, वह सचाई नहीं, जो छल से युक्त है।

येते पाशा वरुण सप्तसप्त त्रेधा तिष्ठन्ति विषिता रुशन्तः। छिनन्तु सर्वे अनृतं वदन्तं यः सत्यवाद्यति तं सृजन्तु (अथर्व ४।१६।६)

हे वरुण जो तेरी तीन प्रकार की सात २ फांसें खुली हुई बांधने वाली हैं, वे सब झूठ बोलने वाले को बांधें, और जो सत्यवादी है, उसको छोडदें॥

अयाते अग्ने समिधा विधेम प्रतिस्तोमं शस्यमानं गृभाय । दहोशसो रक्षसः पाह्यस्मान् द्रुहोनिदो मित्र महो अवद्यात् (ऋ ४ । ४ । १५)

हे अग्ने इस समिधा से हम तेरी सेवा करते हैं, हमारे गाए जाते हुए स्तोत्र को स्वीकार कर, हे मित्रों से पूजनीय ! धर्म के विरोधी राक्षसों को दूर कर, और हमें द्रोह निन्दा और हरएक प्रकार के पाप से बचा (यहां द्रोह और निन्दा का निषेध किया है)।

एत उत्ये पतयन्ति श्वयातव इन्द्रं दिप्सन्ति दिप्सवो अदाभ्यम् । शिशीतेशक्रः पिशुनेभ्यो वधंनूनंसृजद शनिं यातुमद्भ्यः । (ऋ ७ । १०४ । २०)

वे हिंस्र दुर्जन उड़ जाते हैं, जो दम्भी दम्भ में न आने वाले इन्द्र को भी छलना चाहते हैं, शक्तिमान् इन्द्र चुगलों के लिए अपने शस्त्र को तीक्ष्ण करता है, और जादू वालों के लिए वज्र को छोडता है ।

यहां दम्भ चुगली और मिथ्या यन्त्र मन्त्र की वाणियों को पाप बतलाया है ॥

अन्यप्रमाण— सत्यंब्रूयात् प्रियंब्रूयात् नब्रूयात् सत्यमप्रियम् ।
प्रियं च नानृतं ब्रूयादेषधर्मः सानतनः (मनु ४ । १३८)

सत्य बोले, प्रिय बोले, ऐसा सत्य न बोले जो अप्रिय हो, और ऐसा प्रिय न बोले, जो असत्य हो, यह सनातन धर्म है ।

भद्रं भद्रं मितिब्रूयाद् भद्रमित्येव वा वदेत् ।
शुष्कवैरं विवादं च न कुर्यात् केनचित् सह । १३९ ।

शुभ को शुभ कहे, वा शुभ ही कहे * सूखा वैर और झगड़ा किसी से न करे ।

हीनांगानतिरिक्तांगान् विद्याहीनान् वयोऽधिकान् ।
रूपद्रव्यविहीनांश्च जातिहीनांश्च नाक्षिपेत् । १४१ ।

हीन अंगवाले, अधिक अंगवाले, विद्या से हीन, अवस्था में बड़े, रूप से हीन, धन से हीन वा जाति से हीनों को न अनादरे † । १४१ ।

साक्षी के विषय में धर्मशास्त्र यह उपदेश देते हैं ।

सत्यंसाक्ष्येब्रुवन्साक्षी लोकानाप्नोति पुष्कलान् ।
इहचानुत्तमां कीर्तिंवागेषा ब्रह्मपूजिता (मनु ८ । ८१)

साक्षी अपनी साक्षिता में सत्य बोलता हुआ (मरकर) उत्तम लोकों, और यहां उत्तम यश को प्राप्त होता है, यह वाक् (सचाई) वेद से आदर की गई है ॥

साक्ष्येऽनृतंवदन् पाशैर्वारुणैर्बध्यते भृशम् ।
विवशः शतमाजातीस्तस्मात्साक्ष्यं वदेदृतम् । ८२ ।

साक्षिता में झूठ बोलने वाला सौ जन्म तक वरुण के फांसों में बेबस बांधा जाता है, इसलिए साक्षिता ठीक २ कहे ।

सत्येन पूयते साक्षी धर्मः सत्येन वर्धते ।
तस्मात् सत्यं हि वक्तव्यं सर्ववर्णेषुसाक्षिभिः । ८३ ।

---

* अशुभ भी हो, तो शुभ शब्दों में ही कहे, जैसे मरे को स्वर्गवास हुआ । मुण्डन को वर्धापन कहते हैं । घर में स्त्रियें दिया बुझाने को बड़ा करना कहती हैं, आटा खुट (चुक) जाए, तो बढ़ गया कहती हैं । अंधे को सूरदास कहते हैं ॥

† काने को काना और धन हीन को कंगला इत्यादि न कहे ।

साक्षी सत्य से पवित्र होता है, धर्म सत्य से बढता है, इस लिए हरएक वर्ण के विषय में साक्षियों को सत्य ही बोलना चाहिये।

आत्मैवह्यात्मनः साक्षीगतिरात्मातथात्मनः।
मावमंस्थाः स्वमात्मानं नृणांसाक्षिणमुत्तमम्। ८४।

आत्मा आत्मा का साक्षी है, तथा आत्मा ही आत्मा का रक्षक है, सो तू मनुष्यों के साक्षी अपने आत्मा का (झूठ बोल कर) अपमान मत कर। ८५।

मन्यन्ते वै पापकृतो न कश्चित् पश्यतीति नः।
तांस्तुदेवाः प्रपश्यन्ति स्वस्यैवान्तरपूरुषः। ८६।

पाप करने वाले समझते हैं, कि उनको कोई नहीं देखता, पर उनको देवता देखते हैं, और अपना ही अन्तरात्मा देखता है।

ब्रूहीतिब्राह्मणं पृच्छेत् सत्यंब्रूहीति पार्थिवम्।
गोबीजकाञ्चनैर्वैश्यं शूद्रं सर्वैस्तुपातकैः। ८८।

'कहो' *ब्राह्मण से इतना ही पूछे, 'सत्य कहो' यह क्षत्रिय से, वैश्य को उसके पशु, धान्य और धन का ध्यान दिलाकर और शूद्र को हरएक पातक का भय देकर (पूछे)।

* यह ब्राह्मण के सरल स्वभाव की दृष्टि से कहा है, अतएव जिनकी जीविका सत्य झूठ से मिली होती है, उन ब्राह्मणों के विषय में यह कहा है—

गोरक्षकान् वाणिजिकांस्तथा कारुकुशीलवान्।
प्रेष्यान् वार्धुषिकांश्चैव विप्रान् शूद्रवदाचरेत् (मनु ८।१०२)

पशुओं की रक्षा, वाणिज्य, दस्तकारी, नटपन और दासपन और ब्याज से जीविका करने वाले ब्राह्मणों को भी शूद्र की नाईं पूछे।

यस्य विद्वान्हिवदतः सेत्रज्ञो नाभिशङ्कते।
तस्मान्नदेवाः श्रेयांसं लोकेऽन्यं पुरुषंविदुः।९६।

कहते समय जिसका आत्मा शंका-नहीं करता, जो कि यथार्थता का जानने वाला है, देवता उससे बढ कर किसी को श्रेष्ठ नहीं मानते॥

नास्ति सत्यसमो धर्मो न सत्याद् विद्यतेपरम्।
नहि तीव्रतरं किञ्चिदनृतादिह विद्यते॥

सत्य के बराबर कोई धर्म नहीं, सत्य से बढकर कुछ उत्तम नहीं, और झूठ से बढकर क्रूर नहीं।

मनस्यन्यद् वचस्यन्यत् कार्यंचान्यद् दुरात्मनाम्।
मनस्येकं वचस्येकं कर्मण्येकं महात्मनाम्॥

मन में और वाणी में और, और कार्य में और यह दुर्जनों का लक्षण है। मन में एक वाणी में एक और कर्म में एक यह महात्माओं का लक्षण होता है।

तास्तुवाचः सभायोग्या याश्चित्ताकर्षणक्षमाः।
स्वेषां परेषां विदुषां द्विषा मविदुषामपि॥

सभा के योग्य वे वचन होते हैं जो अपने बेगाने पण्डित मूर्ख इन सब के चित्त को खींच लें, यहां तक कि शत्रुओं के चित्त को भी खींच लें।

वाङ्माधुर्यान्नान्यदस्ति प्रियत्वं वाक्पारुष्याच्चोपकारोपिनेष्टः
किं तद् द्रव्यं कोकिलेनोपनीतं कोवालोकेगर्दभस्यापराधः॥

वाणी की मधुरता से बढकर संसार में कोई मधुरता नहीं, कडवी वाणी से कोई उपकार भी करे, तो प्यारा नहीं लगता,

कोइल (बोलते समय) क्या लाकर देदेती है, और गधा क्या ले जाता है ।

प्रियवाक्यप्रदानेन सर्वेतुष्यन्ति जन्तवः ।
तस्मात्प्रियं च वक्तव्यं वचने कादरिद्रता ॥

प्रिय वचन देने से सब मनुष्य प्रसन्न होते हैं, इसलिए सदा प्रिय बोलना चाहिये, वचन में क्या दरिद्रता (कंगाली) करनी ।

काकः कृष्णः पिकःकृष्णः को भेदः पिककाकयोः ।
प्राप्ते वसन्तसमये काकः काकः पिकः पिकः ॥

कौआ काला है कोइल भी काली है, कोइल और कौए में क्या भेद है, वसन्त काल आने पर कौआ कौआ और कोइल कोइल होती है ।

भूख और अलक्ष्मी से समाज का बचाव ।

समाज का पहिला काम तो यह है, कि समाज को ऐसे ढंग पर चलाया जाए, जिससे अकाल वा दारिद्र्य कभी देश वा समाज को न सताए, समाज का कोई भाग वा कोई भी व्यक्ति भूख वा दारिद्र्य से पीडित न हो । दूसरा काम यह है, कि यदि अकाल आही पडे, तो उस को अपने पौरुष से दूर किया जाए । समाज के इस आवश्यक कर्तव्य की ओर भी वैदिक धर्म ही पूरा २ ध्यान दिलाता है–

यत्रेन्द्रश्च वायुश्च सम्यञ्चौचरतः सह । तंलोकं पुण्यंप्रज्ञेषं यत्र से दिर्नविद्यते (यजु२०।२६)

मैं उस देश को पवित्र जानता हूं, जहां इन्द्र और वायु ठीक २ साथ चलते हैं (एक दूसरे के साथी होते हैं) जहां

अकाल दारिद्र्य वा दुर्बलता नहीं है। इस में अकाल दरिद्रता और दुर्बलता को समाज में न आने देने का उपदेश है। और–

असौ यो अधराद् गृहस्तत्र सन्त्वराय्यः। तत्र सेदिर्न्युच्यतु सर्वाश्चयातु धान्यः (अथर्व २।१४।३)

अलक्ष्मियें वहां जाकर निवास करें, जो बहुत निचला स्थान है,* वहीं अकाल और दुर्बलता जाघुसे, और पीड़ा देने वाली सारी शक्तियें जाघुसें।

यहां अकाल आदि को अपने पौरुष से दूर करने का आदेश है।

सेदिरुग्राव्यृद्धिरार्तिश्चान पवाचना। श्रमस्तन्द्रीश्च मोहश्च तैरमूनभिदधामि सर्वान् (अथर्व ८।८।९

भयंकर अकाल और दुर्बलता, अलक्ष्मी, पीड़ा, श्रम, आलस्य, मोह इन सब के समेत अपने सारे शत्रुओं को मार हटाता हूं।

ऋण का चुकाना — ऋण न लेना सब से उत्तम है, पर समाज में इस की आवश्यकता बहुत से लोगों को हुआ करती है, विशेषतः व्यापारी इससे बहुत लाभ भी उठाते हैं। किन्तु सामाजिक जनों में ऋण चुका देने का भाव प्रबल होना चाहिये फिर कोई विवाद उत्पन्न नहीं होता, और व्यवहार सब ठीक चलते हैं। इस विषय में वैदिक शिक्षा बहुत ही उत्तम है—

अपमित्यमप्रतीतं यदस्मि यमस्य येन बलिना

---

* अर्थात् भूमि के नीचे, अर्थात् भूमि के नीचे दब जायं।

चरामि। इदं तदग्ने अनृणो भवामि त्वं पाशान् विचृतं वेत्थ सर्वान् (अथर्व ६। ११७। १)

चुका देने योग्य, न दिया गया जो ऋण मेरे ऊपर है, जिस बल वाले ऋण से मैं यम के अधीन हो रहा हूं (विन चुकाय यम से अवश्य दण्डनीय हूंगा), हे अग्ने ! उससे मैं अनृण होउं, तू सारी फांसों को खोलना जानता है (मुझे वह मार्ग बता, जिससे मैं ऋण की फांसों से छूटूं)।

इहैव सन्तः प्रतिदद्म एनज्जीवा जीवेभ्यो निहराम एनत्। अपमित्य यज्जघासाहमिदं तदग्ने अनृणो भवामि। २।

यहां ही होते हुए ऋण को हम चुकादें, जीतेजी जीते हुओं को चुकादें, अनाज को बदला कर जो मैंने खाया है, हे अग्ने मैं उससे अनृण होउँ ॥

अनृणा अस्मिन्ननृणाः परस्मिन् तृतीये लोके अनृणाःस्याम। ये देवयानाः पितृयाणाश्च लोकाः सर्वान् पथो अनृणा आक्षियेम। ३।

(हे अग्ने तेरी कृपा से) हम इस लोक में अनृण हों (उत्तमर्ण से लिए ऋण को चुकादें, तथा वैदिक ऋण, देव ऋण, पितृ ऋण और ऋषि ऋण, से मुक्त हों), परलोक में अनृण हों, (अगले जन्म के लिए पुण्य का संचय करके यहां से चलें), तीसरे लोक (मुक्ति के विषय) में अनृण हों, जो

मार्ग पितृयाण और देवयान हैं, उन सब मार्गों में अनृण हो कर वास करें।

वर्जनीय विषय।

विवाह सम्बन्ध में } पापमाहुर्यः स्वसारं निगच्छात् (ऋ १० ।१०।१२)

उसको पापी कहते हैं, जो बहिन से युक्त होता है।

व्यभिचार का निषेध } अभ्रातरो न योषणो व्यन्तः पतिरिपो न जनयो दुरेवाः। पापासः सन्तो अनृता असत्या इदं पदमजनता गभीरम् (ऋ ४।५।५)

भाइयों से हीन युवतियों की नाईं भटकते हुए, पतियों से द्वेष करने वाली स्त्रियों की नाईं दुराचारी, धर्महीन, झूठे पुरुष पापी हुए अपने लिए आप गढा खोदते हैं *

न यातव इन्द्रं जूजुवुर्नो न वन्दना शविष्ठ वेद्याभिः। स शर्धदर्योविषुणस्यजन्तोर्मा शिश्नदेवा अपिगुर्ऋतं नः (ऋग् ७।२१।५)

हे बलवत्तम इन्द्र! मायावी हमें न धकेल सकें, न ही राक्षस अपनी चालों से। हमारा स्वामी इन्द्र दुर्जन को दबाए; व्यभिचारी हमारे यज्ञ में (धर्मकार्यों में) न घुसें।

स वाजंयाता पदुष्पदा यन्त्स्वर्षाता परिषदत्

*अक्षरार्थ—गहरा स्थान उत्पन्न करते हैं।

सनिष्यन्। अनर्वाय्च्छतदुरस्य वेदोघ्नञ्छिश्नदेवाँ अभिवर्पसाभूत् (ऋ १० । ९९ । ३)

बड़ी पवित्र चाल से वह (इन्द्र) संग्राम में जाता है, वह देने के लिए दिव्य प्रकाश के जानने में पूरा यत्नवान् होता है, वह न रोका जाने वाला व्यभिचारियों को मार कर सैंकड़ों द्वारों वाले किले के कोष को बल के साथ दबालेता है (अर्थात् व्यभिचारियों के प्रबल किले भी धर्मियों के आगे टूट जाते हैं)

नहीदृशमनायुष्यं लोके किञ्चन विद्यते।
यादृशं पुरुषस्येह परदारोपसेवनम् (मनु ४ । १३४)

इस लोक में आयु को घटाने वाला और कोई ऐसा कर्म नहीं है जैसा कि पुरुष को परस्त्री का सेवन है।

द्यूत का निषेध — न मा मिमेथ न जिहीळएषा शिवा सखिभ्य उतमह्यमासीत्। अक्षस्याह मेकपरस्य हेतोरनुव्रतामपजाया मरोधम् (ऋ १० । ३४ । २)

यह न मुझे तंग करती थी, न क्रोध करती थी, मेरे मित्रों के लिए और मेरे लिए हितैषिणी थी, ऐसी अनुव्रता पत्नी को सब कुछ भुला देने वाले जुए के कारण मैंने तंग किया (यह जुआरिये का वर्तांव बतलाया है)

द्वेष्टि श्वश्रूरपजाया रुणद्धि न नाथितो विन्दते मर्डितारम्। अश्वस्येव जरतो वस्न्यस्य नाहं विन्दामि कितवस्य भोगम्। ३।

सास द्वेष करती है, पत्नी रोकती है, याचना करता हुआ

सहायक को नहीं पाता है, बूढ़े हुए बहुमूल्य घोड़े की नाईं मैं जुआरिये के लिए भोग नहीं देखता हूं ॥

अन्ये जायां परिमृशन्त्यस्य यस्यागृधद्वेदने वाज्यक्षः । पिता माता भ्रातरएनमाहुर्नजानीमो नयता बद्धमेतम् ॥ ४ ॥

बलवान् जुआ जिस को प्यार करता है, उसकी स्त्री को दूसरे स्पर्श करते हैं (वस्त्रादि खींचते हैं) पिता माता भाई इस को कहते हैं, कि हम इसको नहीं जानते हैं, इसको बांध कर लेजाओ।

जाया तप्यते कितवस्य हीना माता पुत्रस्य चरतः क्वस्वित् । ऋणावा बिभ्यद्धन मिच्छमानोऽन्येषामस्त मुपनक्तमेति । १० ।

जुआरिये की पत्नी (धन मान से) हीन हुई तपती रहती है। माता पुत्र को कहीं फिरता देख तप्त होती है, जुआरिया ऋणी होकर (उत्तमर्ण से) डरता हुआ धन चाहता हुआ रात को औरों के घर जाता है (चोरी करता है)।

अक्षैर्मादीव्यः कृषिमित् कृषस्व वित्ते रमस्व बहुमन्यमानः । तत्र गावः कितव तत्र जाया तन्मेविचष्टे सवितायमर्यः । ३ ।

जुआ मत खेल, खेती कर, इस धन को ही बहुत मानता हुआ इसी में आनन्द मना, हे जुआरिये इसमें गौएं हैं (ऐश्वर्य्य मिलेगा) इस में स्त्री है (स्त्री मिलेगी, सती रहेगी और प्यार

करेगी) यह रहस्य मुझे स्वामी सविता ने प्रकाशित किया है।

प्रकाशमेतत् तास्कर्यं यद् देवनसमाह्वयौ।
तयोर्नित्यं प्रतीघाते नृपतिर्यत्नवान् भवेत् (मनु ९।२२२)
अप्राणिभिर्यत् क्रियते तल्लोके द्यूतमुच्यते।
प्राणिभिः क्रियते यस्तु स विज्ञेयः समाह्वयः।२२३।

यह प्रत्यक्ष चोरी है, जो जुआ और समाह्वय है, इन दोनों के रोकने में राजा पूरा यत्न करे।२२२। अप्राणियों (नर्द कौडी आदि) से जो खेला जाता है, वह लोक में जुआ कहलाता है, और जो प्राणियों (बटेर, कुक्कड, मेंढे आदि) से खेला जाता है, वह समाह्वय कहलाता है।

द्यूतमेतत् पुराकल्पे दृष्टं वैरकरं महत्।
तस्माद् द्यूतं न सेवेत हास्यार्थमपि बुद्धिमान्।२२७।

यह जुआ पूर्वकाल में बडा वैर कराने वाला देखा गया है, इस लिए बुद्धिमान् पुरुष जी बहलाने के लिए भी जुआ न खेले।

सुरा आदि का निषेध — न स स्वोदक्षो वरुण ध्रुतिः सा सुरामन्युर्विभीदको अचित्तिः। अस्ति ज्यायान् कनीयस उपारे स्वप्नश्च नेदनृतस्य प्रयोता (ऋग् ७। ८६। ६)

हे वरुण यह भटकना अपने स्वभाव से नहीं, किन्तु सुरा, क्रोध, जुआ और अज्ञान है, है बडा छोटे के निकट (अर्थात् प्रबल दुर्बल को दबा लेता है, इससे मेरे विचारों को सुरा आदि ने भटका दिया,) स्वप्न भी पाप का मिटाने वाला नहीं है (पाप के संस्कार जब तक समूल नाश न हो जाएं, स्वप्न में भी चैन नहीं

लेने देते)॥ इस में सुरा, क्रोध, जुआ और अज्ञान को पाप का प्रवर्तक होने से वर्जनीय ठहराया है।

परस्पर की सहायता।

समाज का कोई भी व्यक्ति दीनता में न रहे, इसके लिए दीनों अनाथों की सहयता करना और मित्रों तथा बन्धुओं की अड समयों में सहायता करना सामाजिक धर्म का अंग है। इस विषय में वेद भगवान् का उपदेश इस प्रकार है—

न वाउदेवाः क्षुधमिद्वधं ददुरुताशित मुपगच्छन्ति मृत्यवः। उतोरयिः पृणतोनोपदस्यत्युतापृणन् मर्डितारं न विन्दते (ऋग् १०। ११७। १)

इधर देवताओं ने भूख को ही मृत्यु नहीं बनाया, तृप्त हो कर खाने वाले को भी मृत्यु आपकड़ती है *। उधर देने वाले का धन खुट (चुक) नहीं जाता, और जो दान से मुंह फेरता है, वह भी अपने लिए सहायक नहीं पाता है (परमात्मा उसी को सहायता देते हैं जो दूसरों की सहायता करता है)

य आध्राय चकमानाय पित्वोऽन्नवान्त्सन् रफितायोपजग्मुषे। स्थिरंमनः कृणुते सेवते पुरोतोचित् स मर्डितारं न विन्दते।२।

वह, जो अन्नवान् होकर, रोटी की कामना से शरण में

* इसलिये किसी को यह कह कर मत टालो, कि मरने के लिए ही इसको ईश्वर ने भूख में डाला है।

आए दीन, अनाथ और दुखिया (विपद् ग्रस्त) के लिए अपना मन कड़ा करलेता है और उसके सामने स्वयं (भोगों का) सेवन करता है, वह कभी अपने लिए सहायक को नहीं पाता है। २।

स इद्भोजो यो गृहवे ददात्यन्नकामाय चरते कृशाय। अरमस्मै भवतियामहूता उतापरीषु कृणुते सखायम्। ३।

उदार वही है, जो दुर्बल हो घूमते हुए अन्नार्थी पात्र को अन्न देता है, ऐसे पुरुष को युद्ध के बुलावों में सिद्धि (सफलता) मिलती है, और विरोधियों में मित्र मिलते हैं (वा आने वाली विपत्तियों के लिए सहायक उत्पन्न कर लेता है)।

न स सखा यो न ददाति सख्ये सचाभुवे सचमानय पित्वः। अपास्मात् प्रेयान्नतदोकोअस्तिपृणन्तमन्यमरण चिदिच्छेत्। ४।

वह मित्र नहीं, जो साथ देने वाले हिले मिले मित्र को (सहायता के समय) सहायता नहीं देता है। ऐसे पुरुष से वह मित्र अलग हो जाएगा, क्योंकि वह अब उसका ठिकाना नहीं रहा, वह किसी दूसरे सहायता देने वाले को ढूंढेगा, चाहे वह पराया हो (इस रहस्य के भूल जाने से हमारी जाति बहुत से अपनों को परायों में मिला चुकी है)।

पृणीयादिद्नाधमानाय तव्यान्द्राघीयांस मनु-

पश्येत पन्थाम् । ओ हि वर्तन्तेरथ्येव चक्राऽन्यमन्य मुपतिष्ठन्त रायः । ५।

धनाढ्य को चाहिये, कि अर्थी याचक को यथाशक्ति अवश्य देवे, और अपनी दृष्टि बड़े लम्बे मार्ग पर रक्खें* क्योंकि धन रथ के पहिये की तरह घूमते हैं, आज एक के पास हैं, तो कल दूसरे के पास जाते हैं । ५ ।

मोघमन्नं विन्दते अप्रचेताः सत्यं ब्रवीमि वधइत् स तस्य । नार्यमणंपुष्यति नो सखायं केवलाघो भवते केवलादी । ६ ।

वह मूर्ख अन्न को व्यर्थ लाभ करता है, मैं सत्य कहता हूं, वह तो उस का नाश ही है, जो न ही ईश्वर के मार्ग पर लगाता है, न ही मित्र को सहायता देता है, अकेला खाने वाला निरा पापी बनता है ।

कृषन्नित्फाल आशितं कृणोति यन्न ध्वानम-पवृङ्क्ते चरित्रैः । वदन् ब्रह्माऽवदतो वनीयान् पृणन्नापिरपृणन्त मभिष्यात् । ७ ।

भूमिको कर्षण करता हुआ ही फाला उस अन्न को उत्पन्न करता है, जो हम खाते हैं, चलता हुआ ही पुरुष अपने पाओं से मार्ग को काटताहै, धर्म बतलाने वाला ब्राह्मण चुप रहने वाले से

* सावधानी से अपने भविष्य पर दृष्टि रक्खे, क्या जाने उसे भी कभी आवश्यकता पडे ।

श्रेष्ठ होता है, ऐसे ही सहायता देने वाला बन्धु सहायता न देने वाले को पीछे छोड़ जाएगा ॥

तात्पर्य—जैसे फाले की सफलता कर्षण में ही है, पाओं की मार्ग के काटने में और ब्राह्मण की सत्य के प्रचार में, इसी प्रकार बन्धुत्व भी बन्धु को सहायता देने में ही सफल होता है, अन्यथा बन्धु अबन्धु है ।

एकपाद् भूयो द्विपदो विचक्रमे द्विपात् त्रिपाद मभ्येति पश्चात् । चतुष्पादेति द्विपदा मभिस्वरे संपश्यन् पङ्क्तीरुपतिष्ठमानः । ८ ।

एक पाओं वाला दो पाओं वाले को उलांघ जाता है, और दो पाओं वाला तीन पाओं वाले को पीछे छोड़ जाता है, चार पाओं वाला दो पाओं वालों के बुलाने पर उनकी पांचों (अंगुलियों) की ओर देखता हुआ उनके सामने आखड़ा होता है ।

आशय यह है, कि धन आदरणीय अवश्य है, पर धनवान् को यह नहीं समझ लेना चाहिये, कि धन ही आदरणीय है । जैसे पशु चार पाओं रखते हुए भी दो पाओं वालों से निकृष्ट हैं, और बूढे तीन पाओं रखते हुए भी (दो पाओं और तीसरी लाठी टेक कर चलते हुए भी) दो पाओं वाले युवा पुरुषों से पीछे रहजाते हैं । ऐसे ही हो सकता है, कि धन में पीछे रहा हुआ भी हृदय की उदारता में धनवान् से आगे हो, इसलिए धनी को धन के अभिमान में किसी का अनादर वा घृणा कभी नहीं करना चाहिये ।

समौ चिद्धस्तौ न समं विविष्टः संमातरा चिन्न समं दुहाते। यमयोश्चिन्न समा वीर्याणि ज्ञाती चित् सन्तौ न समं पृणीतः । ९ ।

एक जैसे भी दोनों हाथ (दायां बायां) एक बराबर काम नहीं करते, दो धेनुएं बछड़ों की माता होने में एक बराबर होकर भी दूध देने में एक बराबर नहीं होती हैं, जोड़े उत्पन्न हुओं की भी शक्तियां एक तुल्य नहीं होतीं, एक जैसे बन्धु हो कर भी एक जैसी सहायता नहीं देते हैं।

आशय यह है, सहायता देने में कभी ऐसा नहीं देखना चाहिये, कि जैसा मैं इसका बन्धु हूं, वैसा वह दूसरा भी है, जब वह नहीं देता, तो मैं क्यों दूं, वा, वह थोड़ी देता है, तो मैं अधिक क्यों दूं, क्योंकि शक्ति और उदारता सब में एक जैसी नहीं हुआ करती, जिस को भगवान् ने समर्थ बनाया है, और सहायता देने वाला हृदय दिया है, वह क्यों दूसरों का ध्यान करे।

सामाजिक प्रार्थना ।

आ ब्रह्मन् ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायतामाराष्ट्रे राजन्यः शूर इषव्योऽतिव्याधी महारथो जायतां दोग्ध्री धेनुर्वोढाऽनड्वानाशुः सप्तिः पुरन्धिर्योषा जिष्णु रथेष्ठाः सभेयो युवाऽस्य यजमानस्य वीरो जायतां निकामे निकामे नः पर्जन्यो वर्षतु फलवत्यो न ओषधयः पच्यन्तां योगक्षेमो नः कल्पताम् (यजु० २२ । २२)

हे ब्रह्मन् ! हमारे राष्ट्र में ब्राह्मण ब्रह्मवर्चसी उत्पन्न हो, क्षत्रिय शूरवीर शस्त्रास्त्र में निपुण पूरा वींधने वाला महारथी उत्पन्न हो, धेनु दूध देने वाली, वैल (वोझ वा हल) खींचने वाला, घोडा शीघ्रगामी, स्त्री सौन्दर्यवती और पति पुत्रवती हो, इस यजमान के घर जयशील, रथी, उमंगों से भरा हुआ वीरपुत्र उत्पन्न हो । समय समय पर मेघ बरसे, हमारी ओषधियें फलों से लदी हुई पकें, हमारा योगक्षेम (अलब्ध का लाभ और लब्ध की रक्षा) सदा समर्थ बना रहे ।

सामाजिक व्यवहारों की व्यवस्था और सामाजिक एकता ।

जो २ सामाजिक धर्म वेद में स्फुट और सविस्तर वर्णन कर दिया है, वह सार्वदेशिक और सार्वकालिक है, अतएव सर्वदा उसी तरह पालने योग्य है । और जिसका मूलमात्र है, उसका मूल सार्वदेशिक और सार्वकालिक है, पर विस्तार देश काल की अपेक्षा से भिन्न २ हो सकता है, तथा जो सर्वथा अनाम्नात है, वह भी देशकाल की अपेक्षा रखता है, ऐसे सामाजिक व्यवहारों में धर्ममर्यादा बांधने की आज्ञा वेद स्पष्टरूप से इस प्रकार देता है—

संगच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनांसि जानताम् । देवा भागं यथापूर्वे संजानाना उपासते (ऋग् १० । १९१ । २)

(हे मनुष्यो) तुम इकट्ठे होवो (सभाएं बनाओ) आपस में संवाद करो (व्यर्थ झगडा वा वितण्डा कभी न करो, न ही राग के वशीभूत हो कर किसी का पक्षपात करो, न द्वेष के

वशीभूत हो कर किसी के विरुद्ध जाओ, किन्तु राग द्वेष छोड़ कर सत्य केवल सत्य पर पहुंचने के लिए कहो सुनो) तुम्हारे मन एक ज्ञान वाले हों (संवाद करके सब के सब एक ही सत्य ज्ञान पर पहुंचो, अथवा एक ही निर्णय पर पहुंचो) जिस प्रकार पहले विद्वानों ने ऐकमत्य हो कर धर्म और ऐश्वर्य का सेवन किया है (वैसे ही तुम करो)।

समानो मन्त्रः समितिः समानी समानं मनः सहचित्तमेषाम्। समानं मन्त्र मभिमन्त्रये वः समानेन वो हविषा जुहोमि । ३ ।

तुम्हारा मन्त्र एक हो, सभा एक हो, मन एक हो, और सोच एक हो, एक ही परम लक्ष्य (उत्तरोत्तर उन्नति का लक्ष्य) तुम्हारे सामने रखता हूं, एक ही यज्ञ (सब की उन्नति का साधक कर्म) तुम्हारे लिए नियत करता हूं।

समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः। समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति । ४ ।

तुम्हारा संकल्प (इरादा) एक हो, तुम्हारे हृदय एक हों, तुम्हारा मन एक हों, जिससे तुम्हारा शुभ मेल सदा बना रहे।

समाज को चलाने के लिए यही सीधा मार्ग है—एष आदेशः। एष उपदेशः। एषा वेदोपनिषद्। एत दनुशासनम्। एवमुपासितव्यम्। एवमुचैतदुपास्यम्—यह (भगवान् का) आदेश है। यह उपदेश है। यह वेद की उपनिषद् (रहस्य, गुह्यतात्पर्य, परमतात्पर्य) है। यह अनुशासन (शिक्षा) है। इस पर सदा चलते रहो। ठीक इसी तरह यह तुम्हारे अनुष्ठान के योग्य है।

यह मार्ग है जिस पर चलने से हमारे पूर्वजों की दिन दुगनी रात चौगुनी उन्नति होती रही है। और इसी मार्ग से भटक कर हम अवनति के गढे में गिरे हैं। और यही मार्ग है, जिस पर अब फिर आरूढ हो कर हम अपने खोए हुए ऐश्वर्य यश और तेज को पुनः प्राप्त करने की आशा रखते हैं। आओ इस मार्ग पर फिर आरूढ होवो और आगे बढो ॥

इन मन्त्रों में समाज का हित साधन करने के लिए कैसा सच्चा गुर बतला दिया है, कि जितने प्रकार के कार्यविभाग हों, उतनी ही सभाएं उपसभाएं बनाओ, और एक दूसरे के विचारों को सुन कर सब को मथकर सचाई निकालो, और उस में सब एकमत हो जाओ।

पूर्व आर्य ऐसी ही सभाओं के द्वारा सब प्रकार के निर्णय किया करते थे। इन सभाओं में से धर्म निर्णय के लिए जो सभा होती थी, उसकी बनावट भगवान् मनु इस प्रकार बतलाते हैं—

अनाम्नातेषु धर्मेषु कथं स्यादिति चेद् भवेत् ।
यं शिष्टा ब्राह्मणा ब्रूयुः, स धर्मः स्यादशङ्कितः। मनु १२।१०८
धर्मेणाधिगतो यैस्तु वेदः सपरिबृंहणः ।
ते शिष्टा ब्राह्मणा ज्ञेयाः श्रुतिप्रत्यक्षहेतवः। १०९ ।
दशावरा वा परिषद् यं धर्मं परिकल्पयेत् ।
त्र्यवरा वापि वृत्तस्था तं धर्मं न विचालयेत् । ११० ।
त्रैविद्यो हैतुकस्तर्की नैरुक्तो धर्मपाठकः ।
त्रयश्चाश्रमिणः पूर्वे, परिषत् स्याद् दशावरा । १११ ।
ऋग्वेदविद् यजुर्विच्च सामवेद विदेवच ।
त्र्यवरा परिषज्ज्ञेया धर्म संशयनिर्णये । ११२ ।

एकोपि वेदविद् धर्मं यं व्यवस्येद् द्विजोत्तमः।
स विज्ञेयः परो धर्मो नाज्ञानामुदितोऽयुतैः। ११३।
अव्रतानाममन्त्राणां जातिमात्रोपजीविनाम्।
सहस्रशः समेतानां परिषत्त्वं न विद्यते। ११४।
यं वदन्ति तमोभूता मूर्खा धर्ममतद्विदः।
तत्पापं शतधाभूत्वा तद्वक्तॄनधिगच्छति। ११५।

साक्षात् न बतलाए गए धर्मों में कैसे निर्णय हो, यदि यह संशय हो, तो (समाधान यह है) कि उस में शिष्ट ब्राह्मण जो कहें, वह निःसंदेह धर्म जानना। १०८। (शिष्ट ब्राह्मण कौन हैं इसका उत्तर देते हैं) जिन्होंने मर्यादानुसार फैलाव समेत (ब्राह्मण अंग उपांग आदि समेत) वेद पढ़ा है, और वेद के विषय का प्रत्यक्षतुल्य निश्चय करा सकते हैं, वे शिष्ट ब्राह्मण जानने चाहियें। १०९। ऐसे शिष्ट ब्राह्मणों की सभा, जिस में न्यून से न्यून दस सदाचारी ब्राह्मण विद्यमान हों (दस का कोर्म हो) (ऐसा हो न सके) तो न्यून से न्यून तीन अवश्यमेव हों, वह, जो धर्म नियत करे (मर्यादा बांधे), उस धर्म को न हिलाए। ११०। (दशावरा=दस के कोर्म वाली सभा कैसी हो?) अलग २ ऋचा, यजु, साम के जानने वाले (तीन पुरुष) एक नैयायिक, एक मीमांसक, एक नैरुक्त, एक धर्मशास्त्री, और तीन पहले आश्रमी (अर्थात् एक ब्रह्मचारी, एक गृहस्थ, एक वानप्रस्थ) यह दशावरा परिषद् है। १११। (त्र्यवरा सभा कैसी हो?) धर्म विषयक संशय मिटाने में एक ऋग्वेद का जानने वाला, एक यजुर्वेद का जानने वाला और एक सामवेद का जानने वाला यह त्र्यवरा परिषद् जाननी चाहिये। ११२।

(अथवा भी न हो, तो चारों) वेदों का जानने वाला एक भी ब्राह्मण जिस धर्म का निश्चय करे, वह उत्तम धर्म जानना चाहिये, न कि दस सहस्र अविद्वानों से कहा हुआ । ११३ । (क्योंकि ब्रह्मचर्य्य-) व्रत से हीन, वेद के जानने वाले, जाति मात्रधारी ब्राह्मणों के सहस्रों के मिलने से भी परिषद् (धर्म की पंचायत) नहीं बनती है । ११४ । जो स्वयं अन्धेरे में भटक रहे हैं, धर्म को जानते नहीं, ऐसे मूर्ख जब धर्म की व्यवस्था देते हैं, तो वह सौगुना पाप बन कर व्यवस्था देने वालों को लगता है । ११५ ।

धन्य वह समाज है, जिसके नेता इस प्रकार समाज की उन्नति में रत रहते हैं ।

यह आर्यों के लौकिक जीवन का वर्णन समाप्त हुआ ।

अब दूसरे भाग में आर्यों के दिव्यजीवन का वर्णन होगा ।

(२)सांख्यशास्त्र—के तीन प्राचीन ग्रन्थ ॥≠) (३) वेदान्तदर्शन भाष्य बडा खोलकर लिखा हुआ ३॥) (३) नवदर्शनसंग्रह १)

(४) आर्य दर्शन १॥) (५) न्याय प्रवेशिका ॥=)

(१०) बालव्याकरण—हिन्दी भाषा में संस्कृत का बडा सरल व्याकरण। इस पर गवर्नमिन्ट ने २००) इनाम दिया है। मिडल स्कूलों में पढाया जाता है॥ मूल्य ॥)

(११) मनुस्मृति—मनुस्मृति का ऐसा भाष्य और कहीं नहीं छपा। खोलने वाली हर एक बात खोली गई है। संस्कृत की पुरानी जो सात टीकाएं हैं, उन सब के भी अर्थ भेद दिखला दिये हैं, और जिस २ श्लोक वा विषय का दूसरी जिस किसी स्मृति से मेल है। उसका पता दिया है। विषयसूची, श्लोक सूची सब साथ है। तिस पर भी मूल्य केवल ३)

(१२) निरुक्त भाष्य—इस पर २००) इनाम मिला है। मूल्य ४)

(१३) पारस्करगृह्यसूत्र— १॥)

(१४) आर्यपञ्चमहायज्ञपद्धति ।॥ (१५) आर्य जीवन १॥)

(१५) वेदोपदेश—॥) (१६) स्वाध्याययज्ञ—॥) (१७) सफलजीवन ॥) (१८) प्रार्थना पुस्तक –) (१९) वैदिक स्तुति प्रार्थना ≡)

पं० आर्यमुनि कृत पुस्तकें।

(१) न्यायार्य भाष्य २॥)

(२) वैशेषिकार्य भाष्य २॥)

(३) वेदान्तार्य भाष्य ३)

(४) मीमांसार्य भाष्य ८)

(५) रामायण ७)

(६) दशों उपनिषद् ७)

(७) षड्दर्शनादर्श ॥)

मिश्रित पुस्तकें।

(८) योग दर्शन भोजवृत्ति-टीका पं० भीमसेन १॥)

(९) योगदर्शन व्यास-भाष्य १)

(१०) वैशेषिक दर्शन प्रशस्त पाद भाष्य ॥)

सिक्खों के दस गुरु ॥)

अग्निहोत्रव्याख्या (प्रो० बालकृष्ण कृत) ।)

(११) बाल राम कथा ॥)

(१२) सफलता की कुंजी ॥=)

(१३) भविष्यपुराण की पड़ताल ।)

(१४) कँवल-शिक्षाप्रदकहानियां =)

स्त्री शिक्षा सम्बन्धी पुस्तकें ।

(१५) द्रौपदी सत्यभामा संवाद =)
(१६) पतिव्रता दमयन्ती ≡)
(१७) सती सावित्री ।)
(१८ मदनविलाप ।-)
(१९) सच्ची स्त्रियां ॥=)
(२०) राजस्थानकी वीररानियां ।॥)
(२१) रामायण सरल भाषा १॥)
(२२) चितौड का शाका =,॥
(२३) राजपूतनी का विवाह ≡)
(२४, मैत्रेयीयाज्ञवल्क्यसंवाद १-)
(२५) भारत की वीर विदुषी स्त्रियें ॥)

मिश्रित पुस्तकें

(२६) वनिता प्रबोध ।/)
(२७) स्वर्ग प्राप्ति ≡)
(२८) चारूदत्त [उपन्यास] ।)
(२९) शुद्ध रामायण २)
(३०) दृष्टान्त सागर ।।।≡)
(३१) स्वरचित जीवन ।)
(३२) हवन मन्त्र बडे)।।।
(३३) विजयदशमी /)॥
(३४) नमस्ते प्रकाश -,॥
(३५) भारतीय यिशप ईसा /)॥
(३६) ओंकार की उपासना -)
(३७) नीति संग्रह ।)
(३८) मूर्ति-पूजा खण्डन -)
(३९) उन्नति पहला भाग ।)
(४०) सत्यार्थ प्रकाश कोष ॥)
(४१) अबला धर्म दर्पण -)
(४२) जीवन यात्रा दो भाग /,॥
(४३) गुलदस्ता भजन ।)
(४४) मानव धर्म सार ॥)
(४५) पञ्जाब का वर्णन /॥
(४६) जिला लाहौर का वर्णन ≡)

सब प्रकार के रंगीन मन्त्र दो दो पैसे

बाहर के शत्रुओं से रक्षा धर्म पालन करने वालों को कैसा शूरवीर उत्साही और सहसी होना चाहिए ।-इस विषय का प्रतिपादक यह अगला सूक्त है, जिससे पुरोहित रणभूमि को जाते हुए राजा सेनापति और सेना को अभिमन्त्रण करता है-

आशुः शिशानो वृषभो न भीमो घनाघनः क्षोभणश्चर्षणीनाम् । संक्रन्दनोऽनिमिष एकवीरः शतं सेना अजयत् साकमिन्द्रः ।१। (ऋ० १० । १०३)

शीघ्रकारी, बड़ा तीक्ष्ण, सांड की न्याईं भयंकर (बड़े डील डौल वाला, और तीक्ष्ण शस्त्रों से सज्जित) मारो मार करने वाला, लोगों में हलचल डाल देने वाला, त्राहि २ करा देने वाला, अनथक काम करने वाला इन्द्र (राजा) एक साथ अनेक सेनाओं को जीत लेता है ।

संक्रन्दनेनानिमिषेण जिष्णुना युत्कारेण दुश्च्यवनेन धृष्णुना । तदिन्द्रेण जयत तत् सहध्वं युधो नर इषुहस्तेन वृष्णा ।।२।।

हे वीर योद्धाओ ! तुम त्राहि २ करादेने वाले, अनथक काम करने वाले, जयशील, युद्धों के चमकाने वाले, शत्रुओं को दवा लेने वाले और स्वयं कभी न दबने वाले, हाथों में बाण धारे हुए शक्तिमान, इन्द्र के साथ मिलकर युद्ध को जीतो, शत्रुओं पर प्रबल आओ ।

स इषुहस्तैः सनिषङ्गिभिर्वशी संस्रष्टा सयुध इन्द्रो गणेन । संसृष्टजित् सोमपा बाहुशर्ध्युग्रधन्वा प्रतिहिताभिरस्ता ।।३।।

मूतिराजिषु स्वर्मीढेष्वाजिषु । मनवे शासदव्रतान् त्वचं कृष्णामरन्धयत् ।। धक्षन्न विश्वं ततृषाणमोषति न्यर्शसान मोषति । (ऋ १ । १३० । ८)

इन्द्र युद्धों में धर्म के रक्षक आर्य की रक्षा करता है, वह जो सैकड़ों प्रकार से रक्षा करने वाला है, वह सारे संग्रामों में उसकी रक्षा करता है, हां दिव्य प्रकाश और दिव्य सुख के लाने वाले (अर्थात् प्रजा के हित के लिए किये गये) संग्रामों में उसकी रक्षा करता है। वह मनुष्य (के हित) के लिए उनको दण्ड देता है, जो धर्ममर्यादा को तोड़ते हैं, वह काली त्वचा (अर्थात् पापी शरीरों) का नाश करता है, मानों जला डालता है, हर एक अतिलोभी (दूसरे का स्वत्व दबाने वाले) को जला डालता है, लोगों को हानि पहुंचाने वाले निर्दयी को सर्वथा जला डालता है ॥

स हश्रुत इन्द्रो नाम देवऊर्ध्वो भुवन् मनुषे दस्मतमः । अव प्रियमर्शसानस्य साह्वाञ् छिरो भरद् दासस्य स्वधावन् ॥६॥ (ऋ० २ । २० । ६)

जगत् विख्यात, सबसे बढ़कर आश्चर्य कर्मकारी शत्रुओं के दबाने वाला, शक्तिमान् इन्द्र आर्य का पूरा सहायक है, और हानि पहुंचाने वाले दास के सिर को नीचे गिराता है ॥

स वृत्रहेन्द्रः कृष्णयोनीः पुरन्दरो दासीरैरयद्वि । अजनयन् मनवे क्षामपश्च सत्रा शंसं यजमानस्य तूतोत् ॥७॥